॥ श्रीहरिः ॥

भक्त-दिवाकर

(संक्षिप्त भक्त-चरित-माला १६)

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

१- भक्त-सुव्रत ५

२- भक्त-वैश्वानर
(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) १०

३- भक्त-पद्मनाभ
(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) २४

४- भक्त-किरात और नन्दी वैश्य
(ले०—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ३५

५- भक्त राजा पुण्यनिधि
(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ४४

६- शिवभक्त महाकाल
(ले०—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ५४

७- वेंकटरमण
(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र,
'माधव' एम० ए०) ७०

८- भक्त-ललिताचरण
(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र,
'माधव' एम० ए०) ८५

भक्त-दिवाकर

भक्त-सुव्रत

सोमशर्मा नामक एक सुशील ब्राह्मण थे। उनकी पत्नीका नाम सुमना था। सुव्रत उन्हींके सुपुत्र थे। भगवान्‌की कृपासे ही ब्राह्मणदम्पतिको ऐसा भागवत पुत्र प्राप्त हुआ था। पुत्रके साथ ही ब्राह्मणका घर ऐश्वर्यसे पूर्ण हो गया था। सुव्रत पूर्वजन्ममें धर्मांगद नामक भक्त राजकुमार थे। पिताके सुखके लिये उन्होंने अपना मस्तक दे दिया था। पूर्वजन्मके अभ्यासवश लड़कपनमें ही वे भगवान्‌का चिन्तन और ध्यान करने लगे थे। वे जब बालकोंके साथ खेलते तब अपने साथी बालकोंको भगवान्‌के ही 'हरि, गोविन्द, मुकुन्द, माधव' आदि नामोंसे पुकारते। उन्होंने अपने सभी मित्रोंके नाम भगवान्‌के नामानुसार ही रख लिये थे। वे कहते—भैया केशव, माधव, चक्रधर! आओ-आओ। पुरुषोत्तम! आओ। हमलोग खेलें। मधुसूदन! मेरे साथ चलो। खेलते-खाते, पढ़ते-लिखते, हँसते-बोलते, सोते-जागते, खाते-पीते, देखते-सुनते, सभी समय वे भगवान्‌को ही अपने सामने देखते। घर,बाहर, सवारीपर, ध्यानमें, ज्ञानमें—सभी कर्मोंमें, सभी जगह उन्हें भगवान्‌के दर्शन होते और वे उन्हींको पुकारा करते। तृण, काठ, पत्थर तथा सूखे-गीले सभी पदार्थोंमें वे पद्मपलाशलोचन गोविन्दकी झाँकी देखा करते। जल-थल, आकाश-पृथ्वी, पहाड़-वन, जड़-चेतन जीवमात्रमें वे भगवान्‌के सुन्दर मुखारविन्दकी छवि देख-देखकर निहाल होते। लड़कपनमें ही वे गाना सीख गये थे और प्रतिदिन ताल-लयके साथ मधुर-स्वरसे भगवान्‌के गुण गा-गाकर भगवान् श्रीकृष्णमें प्रेम बढ़ाते। वे गाते—

'वेदके जाननेवाले लोग निरन्तर जिनका ध्यान करते हैं, जिनके एक-एक अंगमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड स्थित हैं, जो सारे पापोंका नाश करनेवाले हैं, मैं उन योगेश्वरेश्वर मधुसूदन-भगवान्के शरण हूँ । जो सब लोगोंके स्वामी हैं, जिनमें सब लोक निवास करते हैं, मैं उन सर्वदोषरहित परमेश्वरके चरणकमलोंमें निरन्तर नमस्कार करता हूँ, जो समस्त दिव्य गुणोंके भण्डार हैं, अनन्त-शक्ति हैं, इस अगाध अनन्त सागरसे तरनेके लिये मैं उन श्रीनारायणदेवकी शरण ग्रहण करता हूँ। जो योगिराजोंके मानस-सरोवरके राजहंस हैं, जिनका प्रभाव और माहात्म्य सदा और सर्वत्र विस्तृत है, उन असुरोंके नाश करनेवाले भगवान्के विशुद्ध, विशाल चरणकमल मुझ दीनकी रक्षा करें। जो दुःखके अँधेरेका नाश करनेके लिये चन्द्रमा हैं, जिन्होंने लोककल्याणको अपना धर्म बना रखा है, जो समस्त ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर हैं, उन सत्यस्वरूप सुरेश्वर जगद्गुरु-भगवान्का मैं ध्यान करता हूँ। जिनका स्मरण ज्ञान-कमलके विकासके लिये सूर्यके समान है, जो समस्त भुवनोंके एकमात्र आराध्यदेव हैं, मैं उन महान् महिमान्वित आनन्दकन्द भगवान्के दिव्य गुणोंका तालस्वरके साथ गान करता हूँ। मैं उन पूर्णामृतस्वरूप सकल कलानिधि भगवान्का अनन्य प्रेमके साथ गान करता हूँ। पापी जीव जिनका दर्शन नहीं कर सकते, मैं सदा-सर्वदा उन भगवान् केशवकी ही शरणमें पड़ा हूँ। इस प्रकार गान करते हुए सुव्रत हाथोंसे ताली बजा-बजाकर नाचते और बच्चोंके साथ आनन्द लूटते। उनका नित्यका यही खेल था। वे इस तरह भगवान्के ध्यानमें मस्त हुए बच्चोंके साथ खेलते रहते। खाने-पीनेकी कुछ भी सुध नहीं रहती। तब माता सुमना पुकारकर कहती—'बेटा! तुम्हें भूख लगी होगी। देखो, भूखके मारे तुम्हारा मुख कुम्हला रहा है।

आओ, जल्दी आओ, कुछ खा जाओ।' माताकी बात सुनकर सुव्रत कहते—'माँ! श्रीहरिके ध्यानमें जो अमृतरस झरता है, मैं उसीको पी-पीकर तृप्त हो रहा हूँ।' जब माँ बुला लाती और वे खानेको बैठते, तब मधुर अन्नको देखकर कहते—'यह अन्न भगवान् ही है, आत्मा अन्नके आश्रित है। आत्मा भी तो भगवान् ही है, इस अन्नरूपी भगवान्से आत्मारूप भगवान् तृप्त हों। जो सदा क्षीरसागरमें निवास करते हैं, वे भगवान् इस भगवत्स्वरूप जलसे तृप्त हों। ताम्बूल, चन्दन और इन मनोहर सुगन्धयुक्त पुष्पोंसे सर्वात्मा भगवान् तृप्त हों।' धर्मात्मा सुव्रत जब सोते तब श्रीकृष्णका चिन्तन करते हुए कहते—'मैं योगनिद्रा-सम्पन्न श्रीकृष्णके शरण हूँ।' इस प्रकार खाने-पहनने, सोने-बैठने आदि सभी कार्योंमें श्रीभगवान्का स्मरण करते और उन्हींको सब कुछ निवेदन करते। यह तो उनके लड़कपनका हाल है।

वे जब जवान हुए तब सारे विषय-भोगोंका त्याग करके नर्मदाजीके दक्षिण तटपर वैदूर्य पर्वतपर चले गये और वहाँ भगवान्के ध्यानमें लग गये। यों तपस्या करते जब सौ वर्ष बीत गये तब लक्ष्मीजीसहित श्रीभगवान् प्रकट हुए। बड़ी सुन्दर झाँकी थी। सुन्दर नील-श्याम शरीरपर दिव्य पीताम्बर और आभूषण शोभा पा रहे थे। तीन हाथोंमें शंख, चक्र और गदा सुशोभित थे। चौथे करकमलसे भगवान् अभयमुद्राके द्वारा भक्त सुव्रतको निर्भय कर रहे थे। उन्होंने कहा—'बेटा सुव्रत! उठो, उठो, तुम्हारा कल्याण हो। देखो, मैं स्वयं श्रीकृष्ण तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ। उठो, वर ग्रहण करो।'

श्रीभगवान्की दिव्य वाणी सुनकर सुव्रतने आँखें खोलीं और अपने सामने दिव्य मूर्ति श्रीभगवान्को देखकर वे देखते ही रह गये। आनन्दके आवेशसे सारा शरीर पुलकित हो गया। नेत्रोंसे

आनन्दाश्रुओंकी झड़ी लग गयी। फिर वे हाथ जोड़कर बड़ी ही दीनताके साथ बोले—

'हे जनार्दन! यह संसार-सागर बड़ा ही भयानक है। इसमें बड़े-बड़े दुःखोंकी भीषण लहरें उठ रही हैं, विविध मोहकी तरंगोंसे यह उछल रहा है। भगवन्! मैं अपने दोषसे इस सागरमें पड़ा हूँ। मैं बहुत ही दीन हूँ। इस महासागरसे मुझे उबारिये। कर्मोंके काले-काले बादल गरज रहे हैं और दुःखोंकी मूसलाधार वृष्टि करते रहे हैं। पापोंके संचयकी भयानक बिजली चमक रही है। हे मधुसूदन! मोहके अँधेरेमें मैं अन्धा हो गया हूँ। मुझको कुछ भी नहीं सूझता, मैं बड़ा ही दीन हूँ। आप अपने करकमलका सहारा देकर मुझे बचाइये। यह संसार बहुत बड़ा भयावना जंगल है। भाँति-भाँतिके असंख्य दुःख-वृक्षोंसे भरा है, मोहमय सिंह-बाघोंसे परिपूर्ण है। दावानल धधक रहा है। मेरा चित्त, हे श्रीकृष्ण! इसमें बहुत ही बुरी तरह जल रहा है, आप मेरी रक्षा कीजिये। यह बहुत पुराना संसार-वृक्ष करुणा और असंख्य दुःख-शाखाओंसे घिरा हुआ है। माया ही इसकी जड़ है। स्त्री-पुत्रादिमें आसक्ति ही इसके पत्ते हैं। हे मुरारे! मैं इस वृक्षपर चढ़कर गिर पड़ा हूँ, मुझे बचाइये। भाँति-भाँतिके मोहमय दुःखोंकी भयानक आगसे मैं जला जा रहा हूँ। दिन-रात शोकमें डूबा रहता हूँ। मुझे इससे छुड़ाइये। अपने अनुग्रहरूप ज्ञानकी जलधारासे मुझे शान्ति प्रदान कीजिये। मेरे स्वामी! यह संसाररूपी गहरी खाई बड़े भारी अँधेरेसे छायी है। मैं इसमें पड़कर बहुत डर रहा हूँ। इस दीनपर आप कृपा कीजिये। मैं इस संसारसे विरक्त होकर आपकी शरण आया हूँ। जो लोग अपने मनको निरन्तर बड़े प्रेमसे आपमें लगाये रहते हैं, जो आपका ध्यान करते हैं, वे आपको प्राप्त करते हैं। देवता और किन्नरगण

आपके परम पवित्र श्रीचरणोंमें सिर झुकाकर सदा उनका चिन्तन करते हैं। प्रभो! मैं भी न तो दूसरेकी चर्चा करता हूँ, न सेवन करता हूँ और न तो चिन्तन ही करता हूँ। सदा आपके ही नाम-गुण-कीर्तन, भजन और स्मरणमें लगा रहता हूँ। मैं आपके श्रीचरणोंमें निरन्तर नमस्कार करता हूँ। श्रीकृष्ण! मेरी मन:कामना पूरी कीजिये। मेरी समस्त पापराशि नष्ट हो जाय। मैं आपका दास हूँ, किंकर हूँ। ऐसी कृपा कीजिये जिससे मैं जब जहाँ भी जन्म लूँ, सदा-सर्वदा आपके चरण-कमलोंका ही चिन्तन करता रहूँ। श्रीकृष्ण! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे उत्तम वरदान दीजिये। हे देवाधिदेव! मेरे माता और पिताके सहित मुझको अपने परमधाममें ले चलिये।' इस प्रकार स्तुति करके सुव्रत चुप हो गये। तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'ऐसा ही होगा। तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और सुव्रतने अपने पिता सोमशर्मा और माता सुमनाके साथ सशरीर भगवान्के नित्यधामकी शुभ यात्रा की।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

भक्त-वैश्वानर

प्राचीन कालमें पुण्यसलिला नर्मदाके पावन तटपर नर्मपुर नामक अत्यन्त रमणीय किन्तु छोटा-सा ग्राम था। उसमें विश्वानर नामके एक बड़े पुण्यात्मा ब्रह्मचारी निवास करते थे। वे शाण्डिल्य गोत्रके उत्तम ब्राह्मण थे। उनके मुखपर ब्रह्मतेज था, इन्द्रियाँ वशमें थीं, हृदय पवित्र था और वे वेदोंके स्वाध्यायमें ही प्रायः लगे रहते थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे भगवान् शंकरके अनन्य भक्त थे। यही तो सम्पूर्ण वेदोंके स्वाध्यायका फल है।

जब उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रममें सब वेद और वेदांगोंका अध्ययन समाप्त कर लिया, तब उनके चित्तमें यह इच्छा हुई कि अब लौकिक व्यवहारके क्षेत्रमें उतरना चाहिये। इतने दिनतक जो तपस्या की है, स्वाध्याय किया है, मनन-चिन्तन किया है, उसको लेकर संसारमें उतरना चाहिये और देखना चाहिये कि व्यवहारमें उनका कैसा उपयोग होता है। इसके साथ ही उनके मनमें यह प्रश्न उठा कि मुझे किस आश्रममें रहकर अपने जीवनका उपयोग और निर्वाह करना चाहिये। भगवान् शंकरकी ज्ञानप्रद मूर्तिका ध्यान करके वे सोचने लगे कि 'चारों आश्रमोंमें- से मेरे लिये कौन-सा कल्याणकारी है? मेरी मानसिक परिस्थितिको देखते हुए मुझे वानप्रस्थी होना चाहिये या संन्यासी? किसमें कौन-सा गुण है, कौन-सा दोष है? सबके सम्बन्धमें विचार करते-करते वे मन-ही-मन गृहस्थाश्रमकी प्रशंसा करने लगे।'

विश्वानरने मनमें विचार किया कि 'गृहस्थाश्रम ही अन्य तीन आश्रमोंका आधार है। देवता, पितर, मनुष्य और पशु-पक्षी भी गृहस्थोंका ही आश्रय लेते हैं। स्नान, हवन और दान गृहस्थके

लिये आवश्यक धर्म हैं। इस आश्रममें जपके लिये भी कोई बाधा नहीं है। चित्त स्वभावसे ही चंचल है। गृहस्थका चित्त एक स्त्रीमें बँधा रहता है। चरित्रकी रक्षाके लिये धर्मपत्नी उसका कवच है। यदि मैं विवाह नहीं करूँ; हठसे, लोकलाजसे अथवा स्वार्थवश ब्रह्मचारीके ही वेशमें रहूँ और मेरे मनमें बुरी वासनाएँ आवें—आती रहें तो मेरा वह ब्रह्मचर्य किस कामका? यदि गृहस्थ परस्त्रीपर कुदृष्टि न डाले, अपनी स्त्रीसे ही संतुष्ट रहे और ऋतुकालमें सहवास करे तो वह गृहस्थ होनेपर भी ब्रह्मचारी ही है। जो राग-द्वेषसे रहित होकर सदाचारपूर्वक गृहस्थ-जीवन व्यतीत करता है, वह वानप्रस्थीसे भी श्रेष्ठ है। क्षणिक वैराग्यके आवेशमें आकर कोई घर छोड़ दे और घरकी बातोंका ही चिन्तन करता रहे तो उसे त्यागका कोई फल नहीं मिलता। जो गृहस्थ किसीसे किसी वस्तुकी याचना नहीं करता, भगवान् जिस परिस्थितिमें रखें, उसीमें प्रसन्न रहता है, वह उन संन्यासियोंसे बहुत ही उत्तम है, जो भोजनके अतिरिक्त किसी भी वस्तुकी भिक्षा माँगते हैं! तब मुझे गृहस्थाश्रमको ही स्वीकार करना चाहिये।'

शास्त्रोंका अध्ययन, पवित्र अन्तःकरण और भगवान्की भक्ति—ये तीनों सद्विचार और श्रेष्ठ निश्चयके कारण हैं। विश्वानरने अपनी मानसिक स्थिति और अधिकारका विचार करके यही निश्चय किया कि मुझे विवाह करना चाहिये, गृहस्थाश्रम स्वीकार करना चाहिये। शुभ मुहूर्तमें उन्होंने अपने अनुरूप कुलीन कन्यासे विवाह किया और गृहस्थधर्मके अनुसार सदाचारका पालन एवं भगवान्का स्मरण-चिन्तन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करने लगे। उनकी पत्नीका नाम शुचिष्मती था। वे अपने पतिको ही भगवान्का स्वरूप मानकर उनकी सेवा करती थीं। पंच-महायज्ञ—देवता, पितर और अतिथियोंकी पूजा-सेवा प्रतिदिन होती। उनके पूजा-पाठ एवं

अर्थोपार्जनका समय निश्चित था। उनका प्रत्येक काम धर्मकी प्रेरणासे युक्त ही होता था। उनकी धर्मपत्नी उनके प्रत्येक कार्यमें निःसंकोच सहायता करती थीं। वे दो शरीर, एक प्राण थे। उनका जीवन सुखमय था। भगवान्‌का प्रेम दोनोंके हृदयसे छलकता रहता था। इस प्रकार बहुत दिन बीत गये।

एक दिन शुचिष्मतीने सोचा—'अबतक हमलोग सन्तानहीन हैं। सन्तान दम्पतिके प्रेमका मूर्तिमान् स्वरूप है। इस लोक और परलोकके सुखके लिये भी सन्तानकी आवश्यकता है।' पुत्र, पत्नी और पति दोनोंका एकत्व है, इसलिये हमें एक सन्तान तो चाहिये ही। ऐसा सोचकर शुचिष्मतीने अपने पतिसे, जिन्हें वह भगवान् शंकरके रूपमें देखती थी, यह प्रार्थना की—'हे आर्यपुत्र! हे प्राणनाथ! आपके चरणकमलोंकी सेवाके प्रतापसे मुझे कुछ भी दुर्लभ नहीं है। मेरे लिये जिन वस्तुओंकी आवश्यकता है, वह सब आपकी कृपासे प्राप्त हैं। फिर भी मेरे चित्तमें चिरकालसे एक गृहस्थोचित अभिलाषा है, आप कृपा करके मेरी वह अभिलाषा पूर्ण करें।' विश्वानरने कहा—'प्रिये! तुम मेरी अर्द्धांगिनी हो, सहचरी हो, ऐसी कोई भी वस्तु मेरे पास नहीं है जो तुम्हें न दे सकूँ। भगवान् शंकरकी कृपासे हमारे लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। तुम्हारे माँगनेभरकी देर है, मिलनेकी नहीं।' शुचिष्मतीने कहा—'प्रियतम! मैं जानती हूँ कि आप भगवान् शंकरके अनन्य भक्त और उनके कृपापात्र हैं। मैं और कुछ नहीं चाहती, केवल इतना ही चाहती हूँ कि मेरी कोख भगवान् शंकर-जैसे पुत्रसे भरे!' पत्नीकी बात सुनकर विश्वानर एक क्षणके लिये चुप हो गये। उन्होंने सोचा—'ऐसी प्रार्थना तो मेरी कल्पनामें भी नहीं आयी थी। हो-न-हो भगवान् शंकरने ही इसके मुखसे यह बात कहलायी है। अच्छा उनकी इच्छा पूर्ण

हो।' ऐसा सोचकर उन्होंने अपनी धर्मपत्नीसे कहा—'ऐसा ही होगा।' इसके बाद अपनी पत्नीको आश्वासन देकर उन्होंने काशीकी यात्रा की।

काशी भगवान् शंकरका नित्य निवासस्थान है। काशीमें पहुँचते ही विश्वानरके त्रिविध ताप शान्त हो गये, सैकड़ों जन्मोंके संस्कार धुल गये। उन्होंने गंगास्नान करके भगवान् शंकरकी विविध लिंगमूर्तियोंका दर्शन और पूजन किया। यज्ञ करके सहस्र-सहस्र ब्राह्मण संन्यासियोंको भोजन कराया। अब वे विचार करने लगे कि 'काशीका तो एक-एक कण भगवान्का लिंग है, मैं किस लिंगमूर्तिकी आराधना करके अपना अभीष्ट प्राप्त करूँ। मनमें अनेक स्थानों और मूर्तियोंके नाम आये और गये। अन्तमें उन्होंने यह निश्चय किया कि वीरेश्वरकी आराधना करनी चाहिये। अबतक बहुत-से स्त्री-पुरुषोंने वीरेश्वरकी आराधना करके अपनी-अपनी अभिलाषा पूर्ण की है। पंचस्वर गन्धर्वको यहीं सिद्धि प्राप्त हुई थी। कोकिलालापा अप्सरा भावपूर्ण हृदयसे नाचते-नाचते इन्हींमें समा गयी थी। वेदशिरा ऋषि शतरुद्रीका पाठ करते-करते इसी मन्त्र-ज्योतिर्मय लिंगमें सशरीर समा गये थे। जयद्रथको यहींसे राज्य प्राप्त हुआ था। विदूरथको यहींसे पुत्रकी प्राप्ति हुई थी। वसुदत्त वैश्यको यहींसे पत्नी प्राप्त हुई थी। अनेक सिद्धोंको यहीं निर्वाण प्राप्त हुआ है। मैं इन्हींकी आराधना करूँगा, इन्हींकी सेवा-अर्चासे इन्हें पुत्ररूपमें प्राप्त करूँगा। ऐसा दृढ़ निश्चय करके विश्वानर भगवान्की उपासनामें लग गये।

उन्होंने तेरह महीनेतक भगवान्की पूजा की । कभी एक समय खा लेते; कभी बिना माँगे जो कुछ मिल जाता, वही खाकर रह जाते; कभी दूध पी लेते; कभी फल खा लेते, कभी कुछ नहीं खाते। एक महीनेतक एक मुट्ठी तिल प्रतिदिन खाकर रह गये। किसी महीनेमें पानी ही पीकर रह गये तो किसी महीनेमें वह भी नहीं। इसी प्रकार

घोर तपस्या करते हुए उन्होंने बारह महीने व्यतीत किये। तेरहवें महीने एक दिन प्रात:काल ही गंगास्नान करके भगवान्‌की पूजा करनेके लिये आये। उन्होंने जब मूर्तिकी ओर देखा तो बीचो-बीच लिंगमें एक बालक दिखायी पड़ा। आठ वर्षकी अवस्था मालूम पड़ती थी। सब अंगोंमें भस्म लगा हुआ था। बड़ी-बड़ी आँखें थीं, लाल-लाल अधर थे। सिरपर पीली जटा और मुखपर हँसी थी। बालकोचित वेश था, शरीरपर वस्त्र नहीं था। लीलापूर्ण हँसीसे चित्त मोह रहा था। यह बालक बालक नहीं, साक्षात् भगवान् शंकर थे। विश्वानर अपने इष्टदेवको पहचानकर उनके चरणोंपर गिर पड़े और आँखोंके जलसे उनका अभिषेक किया। रोमांचित शरीर एवं गद्‌गद कण्ठसे अंजलि बाँधकर उन्होंने स्तुति की—'प्रभो! मैं तुम्हारा ही हूँ। तुम्हारे चरणोंमें नमस्कार करता हूँ। तुम्हारे अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। तुम सबके कर्ता हो, तुम सबके एकरस: हो, एकरूप हो और रूपरहित हो। तुम्हारे स्वरूपका ज्ञान होनेपर संसार-की विभिन्नता मिट जाती है। जलकी शीतलता, अग्निकी उष्णता, सूर्यका ताप और चन्द्रमाकी सुधा-मधुर-ज्योत्स्ना तुम्हीं हो। सुकुमार कुसुमोंमें सौरभ, दूधमें मधुर नवनीत तुम्हीं हो। तुम साकार और निराकार दोनों हो, सेन्द्रिय-निरिन्द्रिय दोनों हो, सगुण-निर्गुण दोनों हो। तुम्हारे वास्तविक स्वरूपको तुम्हीं जानते हो। बाल-वृद्ध, रूप-अरूप— सब तुम्हीं हो।' इस प्रकार कहते-कहते विश्वानर भगवान् शंकरके चरणोंपर गिर पड़े। भगवान् शंकरने कहा—'तुम्हारी जो इच्छा हो, माँग लो।' विश्वानरने कहा—प्रभो! आप सर्वज्ञ हैं; आपके लिये अज्ञात क्या है? एक तो मैंने इच्छा करके ही अपराध किया, दूसरे अब आप याचना करनेको कह रहे हैं! याचना तो दीनताकी मूर्ति है। आप जान-बूझकर मुझे इसके लिये क्यों प्रेरित कर रहे हैं?' भगवान् शंकरने कहा—'तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी। शुचिष्मतीकी

इच्छा पूर्ण करनेके लिये तुमने जो तपस्या की है, वह सर्वथा उचित है। मैं एकरूपसे तुम्हारा पुत्र बनूँगा। मेरा नाम गृहपति, अग्नि अथवा वैश्वानर होगा।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और विश्वानर बड़े आनन्दके साथ भगवान्का स्मरण करते हुए अपने घर लौट आये।

समयपर शुचिष्मती गर्भवती हुई। विश्वानरने शास्त्रके अनुसार सभी संस्कार किये। जिस दिन पुत्रजन्म हुआ उस दिन त्रिलोकी आनन्दसे परिपूर्ण हो गयी। शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुके झकोरोंसे दिशाएँ सुवासित हो गयीं। बादलोंने नन्दनवनके कुसुमोंका सौरभरस लेकर समस्त प्राणियोंका अभिषेक किया। कल्याणमयी पृथ्वी दिव्य ध्वनिसे ध्वनित होकर सबके हृदयमें एक अद्भुत सुखका संचार करने लगीं—अप्सराएँ नाचने लगीं, गन्धर्व गाने लगे। मरीचि, पुलस्त्य, अत्रि आदि ऋषिश्वर तथा ब्रह्मा, विष्णु आदि देवेश्वर—सब-के-सब विश्वानरके घरपर प्रकट हुए। स्वयं भगवान् शंकर पार्वतीके साथ अपने अंशविशेषके अवतारका जन्मोत्सव देखनेके लिये आये। ब्रह्माने स्वयं उस नवजात शिशुका जातकर्म-संस्कार किया और श्रुतिके अनुसार नामकरण किया। शिशुका नाम गृहपति रखा गया। बालककी रक्षाका विधान करके ब्रह्मा, विष्णु और शंकर तीनों ही अपने-अपने धामको चले गये। उस समय सबके मुँहसे यही आवाज निकल रही थी—'इस शिशुका रूप धन्य है, तेज धन्य है और शुचिष्मतीकी कोख धन्य है।' इस महान् उत्सवके समाप्त होनेपर सब लोग अपने-अपने घर जाकर भी यही कहते रहे कि पुत्र हो तो ऐसा हो, ऐसा सर्वलक्षणसम्पन्न बालक तो कभी देखनेमें नहीं आया था। पिता-माताके आनन्दका तो कहना ही क्या था। उनके तो इष्टदेव ही उनके सामने बालक बनकर आ गये थे।

वे उसके लालन-पालनमें, दुलार-प्यारमें इस प्रकार लग गये कि उन्हें यह बात भूल ही गयी कि यह भगवान् शंकरका अंश है अथवा उनका कृपाप्रसाद है। वे तो उसे केवल अपना लाड़ला शिशु समझते थे। कहीं गरमी-सर्दी न लग जाय, कहीं इसको कोई कष्ट न हो जाय—इसी चिन्तामें सदा रहते थे। सच है, लीलाका माधुर्य ऐश्वर्यको ढक देता है।

पाँचवें वर्ष यज्ञोपवीत संस्कारके साथ ही कुमारका वेदाध्ययन प्रारम्भ हुआ। गृहपति वैश्वानर कोई सामान्य बालक नहीं थे कि उनके अध्ययनमें बहुत वर्षोंका विलम्ब हो। गुरु तो उनके विनय आदि सद्गुणों और विलक्षण प्रतिभाके दर्शनसे ही प्रभावित हो गये थे। वैश्वानरने गुरुको साक्षी बनाकर स्वयं ही सम्पूर्ण विद्याओंका अध्ययन कर लिया। कुल तीन वर्षके समयमें समस्त शास्त्रोंका सांगोपांग अध्ययन करके—जब कि दूसरोंके लिये इतने अल्पकालमें उनका पारायण भी असम्भव है—वैश्वानर अपने पिताके पास लौट आये और उन्होंने अपने विनय, सेवा, सहिष्णुता आदिसे न केवल अपने माता-पिताको, बल्कि सभी लोगोंको चकित कर दिया। बालकोंका एकमात्र कर्तव्य है माता-पिताकी सेवा—उनकी आज्ञाका पालन और सबके साथ विनयका व्यवहार। वैश्वानर इसके आचार्य थे, आदर्श थे। विद्याके साथ विनय भी चाहिये, यही मणि-कांचन-संयोग है।

एक दिन घूमते-घामते देवर्षि नारद नर्मपुरमें विश्वानरके घर आये। शुचिष्मती और विश्वानरने प्रेम और आनन्दसे भरकर उनका आतिथ्य-सत्कार किया। वैश्वानर गृहपतिने आकर चरणोंमें प्रणाम किया। देवर्षि नारदने आशीर्वाद देकर विश्वानरसे बालककी प्रशंसा करते हुए कहा—'तुम्हारा दाम्पत्य-जीवन धन्य है! यह तुम्हारा बड़ा सौभाग्य है कि तुम्हें ऐसा आज्ञाकारी पुत्र

प्राप्त हुआ है। पुत्रके लिये तो इससे बढ़कर और कोई कर्तव्य ही नहीं है। उसके लिये माता-पिता ही गुरु और देवता हैं, उनकी सेवा ही सदाचार है। उनके चरणोंका जल ही तीर्थ है। पुत्रके लिये संसारमें पिता ही परमात्मा है, पितासे भी बढ़कर माता है; क्योंकि दस महीनेतक पेटमें रखना और बचपनमें पालन-पोषण करना माताका ही काम है। गंगाके पवित्र जलसे अभिषेक करनेपर भी वैसी पवित्रता नहीं प्राप्त होती जैसी माताके चरणामृतके स्पर्शसे प्राप्त होती है। संन्यास लेनेपर पुत्र पिताके लिये वन्दनीय हो जाता है, परन्तु माता संन्यासी पुत्रके लिये भी वन्दनीया ही रहती है। तुम दोनों धन्य हो, क्योंकि तुम्हें ऐसा पुत्ररत्न प्राप्त हुआ है।' देवर्षि नारद जब यह कह रहे थे, माता-पिताके हृदयमें कितना हर्ष हुआ होगा—इसका अनुमान कौन कर सकता है?

देवर्षि नारदने वैश्वानरको अपने पास बुलाते हुए कहा—'बेटा! आओ, मेरी गोदमें बैठ जाओ; मैं तनिक तुम्हारे शरीरके लक्षणोंको तो देखूँ।' माता-पिताकी आज्ञासे वैश्वानर देवर्षि नारदको प्रणाम करके बड़ी नम्रतासे उनकी गोदमें बैठ गये। देवर्षि नारदने शरीरका एक-एक लक्षण देखा; तालु, जीभ और दाँत भी देखे। इसके पश्चात् गौरी-शंकर और गणेशको नमस्कार करके कुंकुमसे रँगे हुए सूतसे उत्तर मुँह खड़े हुए बालकको पैरसे लेकर सिरतक नाप लिया। उसके बाद कहा—'हे विश्वानर! एक सौ आठ अंगुल जिसके शरीरका परिमाण होता है, वह लोकपाल होता है; तुम्हारा बालक वैसा ही है। इसके शरीरमें उत्तम पुरुषके बत्तीसों लक्षण मिलते हैं। इसके पाँच अंग दीर्घ हैं—दोनों नेत्र, दाढ़ी, जानु, और नासिका। पाँच अंग सूक्ष्म हैं—त्वचा, केश, दाँत, उँगलियाँ और उँगलियोंकी गाँठें। इसके तीन अंग ह्रस्व हैं—

ग्रीवा, जंघा और मूत्रेन्द्रिय। स्वर, अन्तःकरण और नाभि—ये तीन गम्भीर हैं। इसके छः स्थान ऊँचे हैं—वक्षःस्थल, उदर, मुख, ललाट, कन्धे और हाथ। इसके सात स्थान लाल हैं—दोनों हाथ, दोनों आँखोंके कोने, तालु, जिह्वा, ओष्ठ, अधर और नख। तीन स्थान विस्तीर्ण हैं—ललाट, कटि, और वक्षःस्थल। इन लक्षणोंसे यह सिद्ध होता है कि यह बालक महापुरुष है।' देवर्षि नारदने इनके अतिरिक्त माता-पिताको और बहुत-से लक्षण दिखाये; जिनसे इस बालककी असाधारणता सिद्ध होती थी। माता-पिता सुनते-सुनते अघाते न थे। वे चाहते थे देवर्षि और कुछ कहें। देवर्षिने भी अपनी ओरसे कोई बात उठा न रखी!

देवर्षिने अन्तमें कहा—'इस बालकमें सब गुण हैं, सब लक्षण हैं, यह निष्कलंक चन्द्रमा है; फिर भी ब्रह्मा इसे छोड़ेंगे नहीं, विधाताके उलटा होनेपर सारे गुण दोष बन जाते हैं। अभी इसका नवाँ वर्ष चल रहा है, बारहवें वर्ष विद्युत्के द्वारा इसकी मृत्यु हो सकती है। इतना कहकर देवर्षि नारद आकाशमार्गसे चले गये। माता-पिताके हृदयपर तो मानो अभी वज्रपात हो गया। सुखके सारे स्वप्न एक क्षणमें हवा हो गये। 'हाय रे मर गया!' कहकर विश्वानर मूर्च्छित हो गये। शुचिष्मती पीड़ित हृदयसे विलाप करने लगी—'यह एकाएक वज्रपात कैसे हो गया? कहाँ हम सुखके समुद्रमें डूब रहे थे और कहाँ यह प्रलयका विकराल अट्टहास सुनायी पड़ा। क्या मेरी कोख इसीलिये भरी थी कि मेरा नन्हा-सा शिशु अकालमें ही कालका ग्रास बन जाय? जिसके लिये हमने त्याग किया, तपस्या की, भगवान्‌को प्रसन्न किया, अन्तमें उसकी क्या यही गति होनेवाली थी? हमारे लिये इस संसारमें यह बालक ही सार है। इसके बिना हमारा जीवन निरर्थक है। हे काल! क्या तुम्हारी धर्मपत्नी बाँझ है? कुसुमसे

सुकुमार बालकपर वज्रप्रहार करते समय तुम्हारा हृदय टूक-टूक नहीं हो जायगा क्या? हे शंकर, हे करुणाकर, हे मृत्युंजय! यदि तुम्हारे दिये हुए बालकपर भी मौतका हथकण्डा चल जाता है तो हम किसपर विश्वास करें, किसकी शरणमें जायँ?'

शुचिष्मतीके विलापके साथ ही आँसुओंकी धारा और गरम साँस निकल रही थी। सारा वायुमण्डल करुणासे परिपूर्ण हो गया। वृक्षों और लताओंतकके हृदय पसीज गये। वे भी आँसू और पसीनेसे रीते न रहे। दिशाएँ रो उठीं, पशु-पक्षी भी स्तब्ध हो गये। विश्वानरकी मूर्च्छा टूटी, उन्होंने कहा—'मेरा प्राण कहाँ है? मेरा सर्वस्व कहाँ है? मेरा स्वामी कहाँ है? भावी अनिष्टकी आशंकासे दोनों बेहोश हो रहे थे, उनका शिशु, उनका प्राण कहीं गया थोड़े ही था। उनके वैश्वानर सामने ही तो खड़े थे। परन्तु प्रेमाविष्ट द्विज-दम्पतिकी आँखें उन्हें देख नहीं रही थीं। प्रेमकी ऐसी ही लीला है। वैश्वानरने देखा मेरे माँ-बाप बहुत दुःखी हो रहे हैं। उन्होंने मुसकराकर कहा—'माँ! तुमलोग इतने डर क्यों गये? तुम्हारे चरणकमलोंकी धूलि जब मैं अपने सिरपर रखे रहूँगा, तब काल भी मेरा स्पर्श नहीं कर सकता—वज्रमें तो रखा ही क्या है। मेरे अनन्य स्नेही पूजनीयो! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि मैं तुम्हारा पुत्र हूँ तो ऐसा काम कर दिखाऊँगा कि वज्र और मृत्यु दोनों मुझसे भयभीत रहेंगे। मैं भगवान् मृत्युंजयकी आराधना करूँगा। वे कालके भी काल हैं, उनकी कृपासे कुछ भी असम्भव नहीं है।' वैश्वानरकी वाणी क्या थी, अमृतकी वर्षा थी। माता-पिताका हृदय शीतल हो गया। उनके सुखकी सीमा न रही। वे बोले—'फिर कहो बेटा! तुमने क्या कहा? क्या काल भी तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकता, वज्र तो क्या चीज है? हाँ ऐसी ही बात है। तुमने जो उपाय बतलाया है मृत्युंजयका

आराधन, उसकी ऐसी ही महिमा है। बड़े दयालु हैं भगवान् शंकर। उन्होंने एक नहीं, अनेककी रक्षा की है। प्रलयकी धधकती हुई आग, वह हलाहल विष जिसकी ज्वालासे त्रिलोकी भस्म हो जाती—करुणापरवश होकर भगवान् शंकर पी गये! उनसे बढ़कर दयालु और कौन हो सकता है? जाओ, तुम उन्हींकी शरणमें जाओ। उनका आराधन ही जीवनकी पूर्णता है।' वैश्वानरने पिता-माताके चरणोंमें प्रणाम किया, उन्हें आश्वासन दिया और प्रदक्षिणा करके काशीकी यात्रा की।

काशीका अर्थ है प्रकाशित करनेवाली, जो निगूढ़ तत्त्वको प्रकाशित कर दे। उसके एक ओर वरणा नदी है, जो आनेवालोंके पाप-तापको पहुँचनेके पहले ही निवारण कर देती है। दूसरी ओर असी है, यह दुःखकी फाँसी काटनेके लिये तीखी तलवार है काशीकी गंगा बस, काशीकी ही हैं। काशीने मानो हार पहन रखा हो! अष्टांगयोगका अनुष्ठान करनेपर भी बड़े-बड़े योगियोंको जो सिद्धि नहीं मिलती, वह काशीके कीड़े-मकोड़ोंको भी प्राप्त है। काशीका कण-कण शिवलिंग है। वैश्वानरका हृदय काशीके दर्शनमात्रसे खिल उठा। मणिकर्णिका-घाटपर स्नान करके विश्वेश्वरका दर्शन किया—इतना सुन्दर, इतना मनोहर दर्शन! मानो परमानन्द ही उस लिंगके रूपमें प्रकट हो गया हो। वैश्वानरने सोचा—'मैं धन्य हूँ त्रिलोकीके सारसर्वस्व शंकरका दर्शन करके। क्या यह मूर्ति अमृतमयी है अथवा आत्मज्ञान ही मूर्तिमान् हो गया है? योगियोंके हृदयमें अनुभूत होनेवाली ज्योति ही तो साकार नहीं हो गयी है? यह मोक्ष-वृक्षका फल है अथवा कैवल्य-लताका पुष्प-गुच्छ? अवश्य ही यह समस्त संसारका बीजपूर है। मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मैं अपने प्रभुके दर्शनसे सनाथ

हुआ। देवर्षि नारदने मुझपर बड़ी कृपा की, जिससे जीवनका यह परम लाभ मुझे प्राप्त हुआ। मैं अब कृतकृत्य हूँ।' वैश्वानरके हृदयमें आनन्दमय भावोंकी बाढ़ आ गयी।

भगवान्‌की भक्तिका रहस्य भगवान् ही जानते हैं। अल्पज्ञ जीव अनन्त प्रेमार्णवसे एक सीकरकी भी तो कल्पना नहीं कर सकता। इसीसे करुणापरवश भगवान् भक्तके वेशमें आते हैं। भक्त कभी भगवान्‌से विभक्त होते नहीं। चाहे भगवान् भक्तके हृदयमें प्रकट होकर प्रेमकी लीला करें, चाहे भक्तके रूपमें—दोनोंमें एक ही बात है। आज साक्षात् शंकर भी जीवोंके कल्याणके लिये भक्तोंका साज सज रहे हैं। यह उनके लिये तो एक लीला है; परंतु जीवोंके लिये भक्ति-भावनाका, आराधनाका एक सुन्दर आदर्श है। इस मार्गपर चलकर भला, कौन नहीं अपना कल्याणसाधन कर सकता।

वैश्वानरने शुभ मुहूर्तमें शिवलिंगकी स्थापना की। पूजाके बड़े कठोर नियम स्वीकार किये। प्रतिदिन गंगाजीसे एक सौ आठ घड़े जल लाकर चढ़ाना। एक हजार आठ नीले कमलोंकी माला चढ़ाना। छः महीनेतक सप्ताहमें एक बार कन्द-मूल खाकर रह जाना, छः महीनेतक सूखे पत्ते खाना, छः महीनेतक जल और छः महीनेतक केवल हवाके आधारपर रहना। जप, पूजा, पाठ निरन्तर भगवान् शंकरका चिन्तन। सरल हृदय भक्ति-भावनाओंसे परिपूर्ण कभी भगवान्‌को कर्पूरधवल, भस्मभूषित, सर्पपरिवेष्टित दिव्यमूर्तिका ध्यान, तो कभी करुणापूर्ण हृदयसे गद्‌गद प्रार्थना। दो वर्ष बीत गये पलक मारते-मारते। सुखके दिन, सौभाग्यके दिन यों ही बीत जाया करते हैं। एक दिन जब वैश्वानरका बारहवाँ वर्ष चल रहा था, मानो नारदकी बात सत्य करनेके लिये हाथमें वज्र लिये हुए इन्द्र आये। उन्होंने कहा—'वैश्वानर! मैं तुम्हारी नियम-निष्ठासे प्रसन्न हूँ। तुम्हारे हृदयमें जो अभिलाषा

हो, मुझसे कहो; मैं उसे अवश्य पूर्ण करूँगा।' वैश्वानरने बड़े ही कोमल स्वरमें कहा—'देवेन्द्र! मैं आपको जानता हूँ, आप सब कुछ कर सकते हैं; परंतु मेरे स्वामी तो एकमात्र भगवान् शंकर हैं, मैं उनके अतिरिक्त और किसीसे वर नहीं ले सकता।' इन्द्रने कहा—'बालक! तू मूर्खता क्यों कर रहा है। मुझसे भिन्न शंकरका कोई अस्तित्व नहीं है। मैं ही देवाधिदेव हूँ। जो तुझे चाहिये, मुझसे माँग ले।' वैश्वानरने कहा—'इन्द्र! आपका चरित्र किससे छिपा हुआ है? मैं तो शंकरके अतिरिक्त और किसीसे वर नहीं माँग सकता।' इन्द्रका चेहरा लाल हो गया। उन्होंने अपने हाथमें स्थित भयंकर वज्रसे वैश्वानरको डराया। वज्रकी भीषण आकृति देखकर, जिसमेंसे विद्युत्की लपटें निकल रही थीं, वैश्वानर मानो मूर्छित हो गये। ठीक इसी समय भगवान् गौरीशंकरने प्रकट होकर अपने कर-कमलोंके अमृतमय संस्पर्शसे वैश्वानरको उज्जीवित करते हुए कहा—'बेटा! तुम्हारा कल्याण हो! उठो, उठो; देखो तो सही, तुम्हारे सामने कौन खड़ा है!' उस सुधा-मधुर वाणीको सुनकर वैश्वानरने अपनी आँखें खोलीं और देखा कि कोटि-कोटि सूर्यके समान प्रकाशमान भगवान् शंकर सामने खड़े हैं। ललाटपर लोचन, कण्ठमें कालिमा, बायीं ओर जगज्जननी पार्वती। जटामें स्थित चन्द्रमाकी किरणें आनन्दकी वर्षा कर रही थीं। कर्पूरोज्ज्वल शरीरपर गजचर्मका आच्छादन और साँपोंके आभूषण! आनन्दके उद्रेकसे वैश्वानरका गला भर गया, शरीर पुलकायमान हो गया, बोलनेकी इच्छा होनेपर भी जबान बन्द हो गयी। वैश्वानर चित्र-लिखेकी भाँति स्थिर हो गया। अपने-आपको भी भूल गया। न नमस्कार, न स्तोत्र और न तो प्रार्थना। एक ओर गौरीशंकर और दूसरी ओर वैश्वानर। वैश्वानर चकित था, भगवान् शंकर मुसकरा रहे थे।

भगवान् शंकरने मौन भंग किया। वे बोले—'बाल वैश्वानर! क्या तुम इन्द्रका वज्र देखकर भयभीत हो गये; डरो मत, मैंने ही इन्द्रका रूप धारण करके तुम्हें परखना चाहा था। जो मेरे प्रेमी भक्त हैं, वे तो मेरे स्वरूप ही हैं और तुम तो मेरे स्वरूप हो ही। इन्द्र-वज्र अथवा यमराज मेरे भक्तका बाल भी बाँका नहीं कर सकते। तुम्हारी जो इच्छा हो वह मैं पूर्ण कर सकता हूँ। तुम्हें मैंने अग्निका पद दिया। तुम समस्त देवताओंके मुख बनोगे। सब देवता तुम्हारे द्वारा ही अपना-अपना भाग ग्रहण कर सकेंगे। समस्त प्राणियोंके शरीरमें तुम्हारा निवास होगा। पूर्व दिशाके अधिपति इन्द्र हैं और दक्षिण दिशाके यमराज। तुम दोनोंके बीचमें दिक्पालरूपसे निवास करो। तुम आजसे आग्नेय कोण-के अधिपति हुए। पिता, माता, और बन्धुओंके साथ विमानपर चढ़कर तुम अग्निलोकमें जाओ और अपने पदके अनुसार कार्य करो।' भगवान् शंकरके इतना कहते ही वैश्वानरके माता-पिता, बन्धु-बान्धव सब वहाँ उपस्थित हो गये। सबके साथ भगवान् शंकरके चरणोंमें नमस्कार करके वैश्वानर अग्नि अपने लोकको चले गये और भगवान् शंकर उसी लिंगमें समा गये, जिसकी पूजा वैश्वानर किया करते थे। भगवान् शंकरने स्वयं उस लिंगकी बड़ी महिमा गायी है।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

भक्त-पद्मनाभ

भगवान् दयामय हैं। वे सम्पूर्ण जगत्पर निरन्तर दयाकी वर्षा करते रहते हैं, उनकी ओरसे किसी भी प्रकारका भेदभाव नहीं है। उनके अनुभवमें जो कुछ विलम्ब है वह जीवकी ओरसे ही है, भगवान्की ओरसे नहीं। जीव जिस समय सच्चे हृदयसे उनकी कृपाका अनुभव करनेके लिये उन्मुख हो, उसी समय उनकी अनन्त कृपाका अनुभव कर सकता है। कभी-कभी तो जीवके उन्मुख हुए बिना भी वे अपनी कृपासे ही बलात् कृपाका अनुभव करा देते हैं जीवका सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ इसीमें है कि वह भगवान्की कृपाका अनुभव करे। इसके लिये किसी विशेष साधनाकी आवश्यकता नहीं, केवल विश्वास चाहिये। भीम कुम्हारने कौन-सी तपस्या की थी? वह तो केवल मिट्टीके तुलसी-दल, फल और फूल बनाकर भगवान्को चढ़ा दिया करता था; इसीसे उसपर रीझ गये। वसु किसान कौन-सा बहुत बड़ा तपस्वी था? वह तो केवल साँवेंकी खेती करता और उसीका भोग लगाकर प्रसाद पाता, केवल इतनेसे ही उसपर प्रसन्न हो गये और सर्वदाके लिये उसके अर्चा-विग्रह बन गये। वह रंगदास शूद्र ही भगवान्के लिये कितना व्याकुल था? केवल उसके एक मानसिक अपराधकी मार्जनाके लिये ही आप चले आये। भगवान्की लीला विचित्र है। ये कब, किसपर क्यों प्रसन्न होते हैं—इसको वे ही जानते हैं। परंतु इतना निश्चित है कि वे दयाकी मूर्ति हैं और जो उनको चाहता है, उसको वे अवश्य मिलते हैं।

भारतवर्ष सन्तोंकी खान है। इसमें इतने अधिक सन्त हुए

हैं कि उनकी गणना किसी प्रकार सम्भव नहीं है। एक-एक तीर्थोंमें, तीर्थके एक-एक स्थानमें अनेक-अनेक भक्त सन्त हो गये हैं। तीर्थोंकी तो बात ही क्या, शायद ही कोई ऐसा गाँव बचा हो, जिसमें कोई भक्त न हुए हों। वेंकटाचल तो मानो भक्तोंके लिये वैकुण्ठधाम ही है। वहाँ इतने अधिक भक्त हुए हैं कि पुराणोंका बहुत-सा अंश वहाँके भक्तोंकी महिमासे ही भरा हुआ है। इस गये-बीते जमानेमें भी वेंकटाचल इतना सुन्दर और इतना आकर्षक है कि वहाँ जानेपर एक बार तो प्रत्येक सहृदयके मनमें वहीं रह जानेकी अभिलाषा हो ही जाती है। वहाँकी हरी-भरी पर्वतमालाएँ, आकाशगंगा, स्वामि-पुष्करिणी, चक्रतीर्थ आदि ऐसे स्थान हैं, जिनमें स्वभावसे ही सात्त्विकता भरी हुई है और उनके साथ कोई-न-कोई ऐसी स्मृति लगी हुई है जो जीवको भगवान्‌की ओर अग्रसर करती है।

प्राचीन कालकी बात है। आजकल जहाँ बालाजीका मन्दिर है, वहाँसे थोड़ी दूर एक चक्र-पुष्करिणी नामका तीर्थ है। उसके तटपर श्रीवत्सगोत्रीय पद्मनाभ नामके ब्राह्मण निवास करते थे। उनके पास न कोई संग्रह था न परिग्रह। भगवान्‌के नामका जप, उन्हींका स्मरण, उन्हींका चिन्तन—बस यही उनके जीवनका व्रत था। इन्द्रियाँ उनके वशमें थीं, हृदयमें दीन-दुःखियोंके प्रति दया थी। सत्यसे प्रेम, विषयोंके प्रति उपेक्षा तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मभाव—यही उनका जीवन था। अपने सुख-दुःखकी उन्हें कभी परवा नहीं होती थी। परन्तु दूसरेके दुःखकी कल्पनासे ही उनका हृदय द्रवीभूत हो जाता था। कभी वे सूखे पत्ते खा लेते, तो कभी पानीपर ही निर्वाह कर लेते और कभी-कभी तो भगवान्‌के ध्यानमें इतने तन्मय हो जाते कि शरीरकी सुध ही नहीं

रहती; फिर खाये-पीये कौन; परन्तु यह सब तो बाहरकी बात थी। उनका हृदय भगवान्‌के लिये छटपटा रहा था। उनके सामने अपने जीवनका कोई मूल्य नहीं था। वे तो ऐसे-ऐसे सौ-सौ जीवन निछावर करके भगवान्‌को, अपने प्रियतम प्रभुको प्राप्त करना चाहते थे। उनके हृदयमें आशा और निराशाके भयंकर तूफान उठा ही करते। कभी वे सोचने लगते कि भगवान् बड़े दयालु हैं, वे अवश्य ही मुझे मिलेंगे, मैं उनके चरणोंपर लोट जाऊँगा, अपने प्रेमाश्रुओंसे उनके चरण भिगो दूँगा, वे अपने कर-कमलोंसे मुझे उठाकर हृदयसे लगा लेंगे, मेरे सिरपर हाथ रखेंगे, मुझे अपना कहकर स्वीकार करेंगे और मैं आनन्दके समुद्रमें डूबता-उतराता होऊँगा। कितना सौभाग्यमय होगा वह क्षण, कितना मधुर होगा उस समयका जीवन! वे कहेंगे 'वरदान माँगो' और मैं कहूँगा 'मुझे कुछ नहीं चाहिये, मैं तो तुम्हारी सेवा करूँगा, तुम्हें देखा करूँगा। तुम मुझे भूल जाओ या याद रखो, मैं तुम्हें कभी नहीं भूलूँगा।' ऐसी भावना करते-करते पद्मनाभ आनन्द-विभोर हो जाते, उनके शरीरमें रोमांच हो आता; आँखोंसे आँसू गिरने लगते। उनकी यह प्रेम-मुग्ध-अवस्था बहुत देरतक रहती। वे सारे संसारको भूलकर प्रभुकी सेवामें लगे रहते।

कभी-कभी उनके चित्तमें ठीक इसके विपरीप भावना होने लगती—'कहाँ मैं एक क्षुद्र प्राणी—दीन-हीन, मलिन हृदय; कहाँ निखिल ब्रह्माण्डोंके अधिपति भगवान्! मेरे इस पापपूर्ण हृदयमें वे क्यों आने लगे? मैंने कौन-सी ऐसी साधना की है, जिसपर रीझकर वे मुझे दर्शन देंगे? न जप, न तप, न व्रत, न समाधि। जिस हृदयसे उनका चिन्तन करना चाहिये, उससे संसारका चिन्तन! यह तो अपराध है, इसका दण्ड मिलना

चाहिये। मैं दुःखकी ज्वालामें झुलस रहा हूँ, विषयोंके लिये भटक रहा हूँ संसारमें; फिर भी भगवत्प्राप्तिकी आशा! यह मेरी दुराशा नहीं तो क्या है? शरीरके लिये कितना चिन्तित हो जाता हूँ, विषयोंके लिये कितनी उत्सुकता आ जाती है मेरे हृदयमें, संसारके लिये कितनी बार रो चुका हूँ मैं, पर भगवान्‌के लिये आँखोंमें दो बूँद आँसूतक नहीं आते। कैसी विडम्बना है, कितना पराङ्मुख जीवन है। क्या यही जीवन भगवत्प्राप्तिके योग्य है, इसका तो विनाश ही उचित और श्रेयस्कर है।' यही सब सोचते-सोचते उनके हृदयमें इतनी वेदना होती कि ऐसा मालूम होता मानो अब उनका हृदय फट जायगा। कई बार निराशा इतनी बढ़ जाती कि उन्हें अपना जीवन भार हो जाता, कभी-कभी वे मूर्च्छित हो जाते और बेहोशीमें ही पुकारने लगते—'हे प्रभो, हे स्वामी, हे पुरुषोत्तम! क्या तुम मुझे अपना दर्शन नहीं दोगे? इसी प्रकार रोते-रोते, बिलखते-बिलखते मर जाना ही मेरे भाग्यमें बदा है? मैं मृत्युसे नहीं डरता, इस नीच जीवनका अन्त हो जाय—यही अच्छा है। परन्तु मैं तुम्हें देख नहीं पाऊँगा। न जाने कितने जन्मोंके बाद तुम्हारे दर्शन हो सकेंगे। मेरी यह करुण पुकार क्या तुम्हारे विश्वव्यापी कानोंतक नहीं पहुँचती? अपना लो, प्रभु! मेरी ओर न देखकर अपनी ओर देखो।' इस प्रकार प्रार्थना करते-करते वे चेतनाशून्य हो जाते और उनका शरीर घंटोंतक यों ही पड़ा रहता।

लोग कहते हैं भगवान्‌के लिये तप करो, परंतु तपका अर्थ क्या है—इसपर विचार नहीं करते। जेठकी दुपहरीमें जब सूर्य बारहों कलासे तप रहे हों, पाँच अथवा चौरासी अग्नियोंके बीचमें बैठना अथवा घोर सर्दीमें पानीमें खड़े रहना—तपकी केवल इतनी ही व्याख्या नहीं है। तपका अर्थ है—अपने किये

भक्तोंकी विपत्तिका नाश करनेके लिये सर्वत्र चक्रधारीरूपमें विद्यमान रहते हैं, भक्त आपके हैं और आप भक्तोंके। जिसने आपके चरणोंमें अपना सिर झुकाया उसको आपने समस्त विपत्तियोंसे बचाकर परमानन्दमय अपना धाम दिया। आप योगियोंके समाधिगम्य हैं, वेदान्तियोंके ज्ञानस्वरूप आत्मा हैं और भक्तोंके सर्वस्व हैं। मैं आपका हूँ आपके चरणोंमें समर्पित हूँ—नत हूँ। इतना कहकर पद्मनाभ मौन हो गये और कहना ही क्या था?

अब भगवान्की बारी आयी। वे जानते थे कि पद्मनाभ निष्काम भक्त है, इनके चित्तमें संसारके भोगोंकी तो बात ही क्या—मुक्तिकी भी इच्छा नहीं है। इसलिये उन्होंने पद्मनाभसे वर माँगनेको नहीं कहा। उनके चित्तकी स्थिति जानकर उनको सुधामयी वाणीसे सींचते हुए भगवान्ने कहा—हे महाभाग ब्राह्मणदेव! मैं जानता हूँ कि तुम्हारे हृदयमें केवल मेरी सेवाकी ही इच्छा है। तुम लोक-परलोक, मुक्ति और मेरे धामतकका परित्याग करके मेरी पूजा-सेवामें ही सुख मानते हो और वही करना चाहते हो। तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो, कल्पपर्यन्त मेरी सेवा करते हुए यहीं निवास करो, अन्तमें तो तुम्हें मेरे पास आना ही पड़ेगा। इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और पद्मनाभ भगवान्की शारीरिक तथा मानसिक सेवा करते हुए अपना सर्वश्रेष्ठ एवं आनन्दमय जीवन व्यतीत करने लगे। भगवान्की सेवा-पूजासे बढ़कर और ऐसा कर्तव्य ही कौन-सा है, जिसके लिये भगवान्के प्रेमी भक्त जीवन धारण करें? पद्मनाभकी प्रत्येक क्रिया, उनकी प्रत्येक भावना भगवान्के लिये ही होती थी और स्वभावसे ही उनके द्वारा जगत्का कल्याण सम्पन्न होता था। ऐसे भक्त एकान्तमें रहकर भी, भगवान्की सेवामें ही लगे रहकर भी

अपने शुद्ध संकल्पसे संसारकी जितनी सेवा कर सकते हैं, उतनी सेवा काममें लगे रहकर बड़े-बड़े कर्मनिष्ठ भी नहीं कर सकते।

इसी प्रकार भगवान्‌की सेवा-पूजा करते हुए पद्मनाभको अनेक वर्ष बीत गये। वे एक दिन भगवान्‌का स्मरण करते हुए उनकी पूजाकी सामग्री इकट्ठी कर रहे थे। इसी समय एक भयंकर राक्षसने उनपर आक्रमण किया। उन्हें अपने शरीरका मोह नहीं था। मरनेके बाद मुझे किसी दुःखमय स्थानमें जाना पड़ेगा, यह आशंका भी उनके चित्तमें नहीं थी। परन्तु राक्षस खा जायगा, इस कल्पनासे उनके चित्तमें यह प्रश्न अवश्य उठा कि तब क्या भगवान्‌ने मुझे अपनी सेवा-पूजाका जो अवसर दिया है, वह आज ही—इसी क्षण समाप्त हो जायगा? मेरे इस सौभाग्यकी यहीं इस प्रकार इतिश्री हो जायगी? भगवान्‌ने मुझे जो एक कल्पतक पूजा करनेका वरदान दिया है, वह क्या झूठ हो जायगा? यह तो बड़े दुःखकी बात है। ऐसा सोचकर वे भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे— हे दयासागर! हे दीनोंके एकमात्र आश्रय! हे अन्तर्यामी! हे चक्रपाणे! आप मेरी रक्षा करें। जो भी आपकी शरणमें आया, आपने उसकी रक्षा की। मैं आपका शरणागत हूँ, आपका अपना हूँ; क्या आपके देखते-देखते यह राक्षस मुझे खा जायगा और आपका वरदान झूठा रह जायगा? जब ग्राहने गजेन्द्रको पकड़ लिया था, दुर्वासाकी कृत्या अम्बरीषको खा जाना चाहती थी, तब आपने अपना चक्र भेजकर उनकी रक्षा की थी। प्रह्लादकी रक्षाके लिये तो स्वयं आप ही पधारे थे। इस राक्षसका साहस तो इतना बढ़ गया है कि यह आपके वरदानको ही खा जाना चाहता है? प्रभो! अपने विरदकी रक्षा कीजिये, मुझे इस राक्षससे बचाइये।'

तीखी सूईसे कमलका कोमल दल वेधनेमें विलम्ब हो सकता है, परन्तु सच्ची प्रार्थनाके भगवान्‌तक पहुँचनेमें तनिक भी

विलम्ब नहीं हो सकता। अन्तर्यामी भगवान् भक्त पद्मनाभकी प्रार्थनाके पहले ही जान गये थे कि उनपर संकट आया है। भगवान् जानते तो सब कुछ हैं और करते भी सब कुछ ठीक ही हैं; लोग उनके विधानपर निर्भर नहीं रह पाते, इसीसे कुछ कहने या सोचने लगते हैं। भगवान्‌ने भक्त पद्मनाभकी रक्षाके लिये अपने प्रिय आयुध सुदर्शन चक्रको भेजा। चक्रका तेज कोटि-कोटि सूर्यके समान है। भक्तोंके भयको भस्म करनेके लिये आगकी भीषण लपटें उससे निकला करती हैं। चक्रकी तेजोमय मूर्ति देखकर वह राक्षस भयभीत हो गया और ब्राह्मणको छोड़कर बड़े वेगसे भागा, परन्तु सुदर्शन चक्र उसे कब छोड़नेवाले थे? इन्हें उस राक्षसका भी तो उद्धार करना था?

यह राक्षस आजसे सोलह वर्ष पहले गन्धर्व था। उसका नाम था सुन्दर। एक दिन श्रीरंगक्षेत्रमें अपनी स्त्रियोंके साथ कावेरी नदीमें जलविहार कर रहा था। उसी समय उधरसे श्रीरंगनाथके परम भक्त महर्षि वसिष्ठ निकले, उन्हें देखकर स्त्रियाँ लज्जित हो गयीं। उन्होंने जल्दीसे बाहर निकलकर अपने-अपने वस्त्र पहन लिये। परन्तु मदान्ध सुन्दर जहाँ-का-तहाँ उछृंखलभावसे खड़ा रहा। महर्षि वसिष्ठने उसके इस अनुचित कृत्यको देखकर डाँटा और कहा—नीच गंधर्व! तू इस पवित्र क्षेत्रमें, इस पावन नदीमें इतना गर्हित कृत्य कर रहा है। तू गन्धर्व रहनेयोग्य नहीं है; जा राक्षस हो जा।' वसिष्ठके शाप देते ही उसकी स्त्रियोंने दौड़कर महर्षिके चरण पकड़ लिये। उन्होंने प्रार्थनाकी कि 'हे महर्षि? आप बड़े शक्तिमान्, धर्मज्ञ और दयालु हैं। आप हमलोगोंकी ओर देखकर हमारे पतिदेवपर क्रोध न करें। पति ही स्त्रियोंका शृंगार है, पति ही सती स्त्रियोंका जीवन है। यदि सौ पुत्र हों तो भी पतिके बिना स्त्री विधवा कही जाती है।

पतिके बिना स्त्रीका जीवन शून्य है। हे दयासागर! आप हमपर प्रसन्न हों। हम स्त्रियोंके सम्मानके लिये हमारे स्वामीपर कृपा करें। उनका यह एक अपराध अपनी दयालुतासे हमारी ओर देखकर क्षमा कर दें। वे आपके सेवक हैं, आपकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें हैं। महर्षि वसिष्ठ प्रसन्न हो गये, उन्होंने कहा—'देवियो! तुम्हारा पतिप्रेम आदर्श है; परन्तु मेरी बात कभी झूठी नहीं होती, मैं जान-बूझकर कभी झूठ नहीं बोलता, इसलिये अनजानमें कही हुई बात भी सत्य हो जाती है। इसलिये सुन्दरको राक्षस तो होना पड़ेगा; परन्तु आजके सोलहवें वर्ष जब वह भगवान्‌के भक्त पद्मनाभपर आक्रमण करेगा, तब सुदर्शन चक्र इसका उद्धार कर देंगे।'

आज वही सोलहवाँ वर्ष पूरा होनेवाला था। राक्षस बड़े वेगसे भाग रहा था, परन्तु सुदर्शन चक्रसे बचकर कहाँ जा सकता था? देखते-ही-देखते, सुदर्शन चक्रने उसका सिर काट लिया और तत्क्षण वह राक्षस गन्धर्व हो गया। दिव्य शरीर, दिव्य वस्त्र एवं दिव्य आभूषणोंसे युक्त होकर सुन्दरने सुदर्शन चक्रको प्रणाम करते हुए स्तुति की—'हे भगवान्‌के परमप्रिय आयुध! मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ। आपका तेज कोटि-कोटि सूर्यसे भी अधिक है। आप भक्तोंके द्रोहियोंका संहार करते हैं। आपने कृपा करके मुझे राक्षसयोनिसे मुक्त किया। अब मैं गन्धर्व होकर अपने लोकमें जा रहा हूँ। आप सर्वदा मुझपर कृपा रखिये। मुझे आप ऐसा वरदान दीजिये कि मैं आपको कभी न भूलूँ और सर्वदा आपका स्मरण करता रहूँ। मैं चाहे जहाँ रहूँ, मेरा मन आपकी सन्निधिमें रहे।' सुदर्शन चक्रने 'तथास्तु' कहकर उसकी अभिलाषा पूर्ण की। उसने दिव्य विमानपर सवार होकर अपने लोककी यात्रा की।

भक्त पद्मनाभने सुन्दरके गन्धर्वलोकमें चले जानेपर सुदर्शन चक्रकी स्तुति की—'हे सुदर्शन! मैं तुम्हें बार-बार प्रणाम करता हूँ। तुम्हारे जीवनका व्रत है संसारकी रक्षा। इसीसे भगवान्‌ने तुम्हें अपने करकमलोंका आभूषण बनाया। तुमने समय-समयपर अनेक भक्तोंको महान् विपत्तियोंसे बचाया है, मैं तुम्हारी इस कृपाका ऋणी हूँ। तुम सर्वशक्तिमान् हो, मैं तुमसे यही प्रार्थना करता हूँ कि तुम यहीं रहो और सारे संसारकी रक्षा करो।' सुदर्शन चक्रने भक्त पद्मनाभकी प्रार्थना स्वीकार की और कहा—'भक्तवर! तुम्हारी प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं हो सकती, क्योंकि तुम भगवान्‌के परम कृपापात्र हो। मैं यहीं तुम्हारे समीप ही सर्वदा निवास करूँगा। तुम निर्भय होकर भगवान्‌की सेवा-पूजा करो।' अब तुम्हारी उपासनामें किसी प्रकारका विघ्न नहीं पड़ सकता।' भक्त पद्मनाभको इस प्रकार वरदान देकर सुदर्शन चक्र सामनेकी पुष्करिणीमें प्रवेश कर गये। इसीसे उसका नाम चक्रतीर्थ हुआ।

भगवान्‌की कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव करके भक्त पद्मनाभका हृदय प्रेम और आनन्दसे भर गया। वे और भी तन्मयता तथा तत्परतासे भगवान्‌की सेवा करते हुए अपना जीवन व्यतीत करने लगे। ऐसे प्रेमी भक्तोंका जीवन ही धन्य है, क्योंकि वे पल-पलपर और पग-पगपर भगवान्‌की अनन्त कृपाका अनुभव करके मस्त रहा करते हैं।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

भक्त-किरात और नन्दी वैश्य

आशुतोष भगवान् शंकर औढरदानीके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनकी मूर्ति वैराग्य, शान्ति, ज्ञान, कृपा और शक्तिकी प्रतीक है। वे सर्वेश्वर होकर श्मशानवासी हैं, कर्पूर-धवल होनेपर भी सारे शरीरमें भस्म लपेटे रहते हैं, अर्धनारीश्वर होनेपर भी ऊर्ध्वरेता हैं, धनाधीश कुबेर उनकी आज्ञाकी बाट देखते रहते हैं, फिर भी वे कृतिवासा हैं; स्वार्थ और परमार्थसे ऊपर उठे होनेपर भी जगत्के आदर्शके लिये वे तपस्यामें संलग्न रहते हैं। भगवान् विष्णुकी मूर्ति आनन्दमयी है तो शंकरकी ज्ञानमयी। शंकर विष्णुके हृदय हैं तो विष्णु शंकरके। दोनोंके स्वरूप दोनों हैं, इसलिये दोनों ही एक एवं ज्ञानानन्दघन हैं। किसी भी एककी उपासना कीजिये, फल एक ही है। वास्तवमें उनकी उपासना ही जीवनका फल है। जैसे विष्णुके अनेक भक्त हो गये हैं, वैसे ही शिवके भी। जैसे भगवान् शंकर दिव्य हैं, वैसे ही उनके भक्त और उनकी भक्ति भी। वे कब, किसपर, क्यों रीझते हैं—यह कहा नहीं जा सकता। इस सम्बन्धमें अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। यहाँ शिव-भक्त किरात और नन्दी वैश्यकी कथाका उल्लेख किया जाता है।

प्राचीन कालमें नन्दी नामके वैश्य अवन्ती नगरीके एक धनी, मानी और प्रतिष्ठित पुरुष थे। वे बड़े सदाचारी थे, अपने वर्णाश्रमोचित धर्मके पालनमें उनकी बड़ी निष्ठा थी। प्रतिदिन शिव-पूजा करनेका तो उन्होंने नियम ही ले रखा था। वे प्रतिदिन प्रात:काल उठते, विधि-विधान जाननेवाले ब्राह्मणोंके साथ मन्दिरमें जाते और अपनी शक्तिके अनुसार भगवान् शंकरकी पूजा करते। पंचामृतसे स्नान कराकर नाना प्रकारके रंग-बिरंगे सुगन्धित पुष्प

चढ़ाते और उपहारमें मणि, मोती और हीरे समर्पित करते। नैवेद्यके लिये अनेकों प्रकारकी सामग्री नित्य तैयार करवाते और बड़े उत्साहसे उसका भोग लगाते। उनका यह नित्य-नियम बहुत वर्षोंतक चलता रहा।

यद्यपि भगवान् शंकर केवल पूजासे भी प्रसन्न होते हैं— इन्द्रसेन राजापर तो, जो अपने सैनिकोंसे 'आहर-प्रहर' कहा करता था, उसके 'हर-हर' इस उच्चारणपर ही प्रसन्न हो गये— तथापि वे अपने भक्तमें कोई त्रुटि नहीं रहने देना चाहते; इसलिये कभी-कभी प्रसन्न होनेमें विलम्ब भी कर दिया करते हैं। यह विलम्ब भी उनकी अतिशय कृपासे परिपूर्ण ही होता है। उन्होंने वहाँ एक ऐसी घटना घटित की, जिससे यह मालूम हो जाय कि भगवान् केवल नियम-पालनसे ही प्रसन्न नहीं होते, उनके लिये और भी कुछ आवश्यक है और वह है भाव-भक्ति, प्रेम एवं आत्मसमर्पण।

जिस मन्दिरमें नन्दी वैश्य पूजा करते थे, वह बस्तीसे कुछ दूर जंगलमें था। एक दिनकी बात है कि कोई किरात शिकार खेलता हुआ उधरसे निकला। प्राणियोंकी हिंसामें, जो कि अत्यन्त गर्हित है उसे रस मिलता था। उसकी बुद्धि जडप्राय थी, उसमें विवेकका लेश भी नहीं था। दोपहरका समय था, वह भूख-प्याससे व्याकुल हो रहा था। मन्दिरके पास आकर वहाँके सरोवरमें उसने स्नान किया और जलपान कर अपनी तृषा शान्त की। जब वह वहाँसे लौटने लगा, तब उसकी दृष्टि मन्दिरपर पड़ी और पूर्वजन्मके न जाने कौन-से संस्कार उसके चित्तमें उग आये और उसके मनमें यह इच्छा हुई कि मन्दिरमें चलकर भगवान्का दर्शन कर लूँ। जब उसने मन्दिरमें जाकर भगवान् शंकरका दर्शन किया तो उसके

चित्तमें पूजा करनेका संकल्प उठा और उसने अपनी बुद्धिके अनुसार पूजा की।

उसने कैसी पूजा की होगी, इसका अनुमान सहज ही लग सकता है। न उसके पास पूजाकी सामग्री थी और न वह उसे जानता ही था। किस सामग्रीका उपयोग किस विधिसे किया जाता है, यह जाननेकी भी उसे आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। उसने देखा लोगोंने स्नान कराकर बिल्वपत्र आदि चढ़ाये हैं। उसने एक हाथसे बिल्वपत्र तोड़ा, दूसरे हाथमें मांस पहलेसे ही था। गण्डूष-जलसे स्नान कराकर उसने बिल्वपत्र और मांस चढ़ा दिया। वह मांस-भोजी भील था, उसको इस बातका पता नहीं था कि देवताओंको मांस नहीं चढ़ाना चाहिये। यही काम यदि कोई जान-बूझकर करे तो वह दोषका भागी होता है। परंतु उसने तो भावसे अपनी शक्ति और ज्ञानके अनुसार पूजा की थी। बड़ा आनन्द हुआ उसे, प्रेममुग्ध होकर वह शिवलिंगके सम्मुख साष्टांग दण्डवत् करने लगा। उसने दृढ़तासे यह निश्चय किया कि आजसे मैं प्रतिदिन भगवान् शंकरकी पूजा करूँगा। उसका यह निश्चय अविचल था, क्योंकि यह उसके गम्भीर अन्तस्तलकी प्रेरणा थी।

दूसरे दिन प्रातःकाल नन्दी वैश्य पूजा करने आये। मन्दिरकी स्थिति देखकर वे अवाक् रह गये। कलकी पूजा इधर-उधर बिखरी पड़ी थी। मांसके टुकड़े भी इधर-उधर पड़े थे। उन्होंने सोचा—'यह क्या हुआ? मेरी पूजामें ही कोई त्रुटि हुई होगी, जिसका यह फल है। इस प्रकार मन्दिरको भ्रष्ट करनेवाला विघ्न तो कभी नहीं हुआ था। अवश्य ही यह मेरा दुर्भाग्य है।' यही सब सोचते हुए उन्होंने मन्दिर साफ किया और पुनः स्नानादि करके भगवान्की पूजा की। घर लौटकर उन्होंने पुरोहितसे सारा

समाचार कह सुनाया और बड़ी चिन्ता प्रकट की। पुरोहितको क्या मालूम था कि इस काममें भी किसीका भक्ति-भाव हो सकता है। उन्होंने कहा—अवश्य ही यह किसी मूर्खका काम है, नहीं तो, रत्नोंको इधर-उधर बिखेरकर भला कोई मन्दिरको अपवित्र एवं भ्रष्ट क्यों करता? चलो, कल हम भी तुम्हारे साथ चलेंगे और देखेंगे कि कौन दुष्ट ऐसा काम करता है? नन्दी वैश्य ने बड़े दुःखसे वह रात्रि व्यतीत की।

प्रातःकाल होते-न-होते नन्दी वैश्य अपने पुरोहितको लेकर शिवमन्दिरमें पहुँच गये। देखा वही हालत आज भी थी जो कल थी। वहाँ मार्जन आदि करके नन्दीने शिवकी पंचोपचार पूजा की और रुद्राभिषेक किया। ब्राह्मण स्तुतिपाठ करने लगे। वेद-मन्त्रोंकी ध्वनिसे वह जंगल गूँज उठा, सबकी आँख लगी हुई थी कि देखें मन्दिरको भ्रष्ट करनेवाला कब किधरसे आता है।

दोपहरके समय किरात आया। उसकी आकृति बड़ी भयंकर थी। हाथोंमें धनुष-बाण लिये हुए था। शंकरभगवान्‌की कुछ ऐसी लीला ही थी कि किरातको देखकर सब-के-सब डर गये और एक कोनेमें जा छिपे। उनके देखते-देखते किरातने उनकी की हुई पूजा नष्ट-भ्रष्ट कर दी एवं गण्डूष-जलसे स्नान कराकर बिल्वपत्र और मांस चढ़ाया। जब वह साष्टांग प्रणाम करके चला गया, तब नन्दी वैश्य और ब्राह्मणके जीमें जी आया और सब बस्तीमें लौट आये। नन्दीके पूछनेपर ब्राह्मणोंने यह व्यवस्था दी कि यह उपासनाका विघ्न है। बड़े-बड़े देवता भी इसका निवारण नहीं कर सकते। इसलिये उस लिंगमूर्तिको ही अपने घर ले आना चाहिये। उन विद्वानोंके चित्तमें यह बात कब आ सकती थी कि वह किरात नन्दी वैश्यकी अपेक्षा भगवान्‌का श्रेष्ठ भक्त है और वह भी अपनी जानमें भगवान्‌की उपासना ही करता है।

ब्राह्मणोंकी व्यवस्थाके अनुसार शिवलिंग वहाँसे उखाड़ लाया गया और नन्दी वैश्यके घरपर विधिपूर्वक उसकी प्रतिष्ठा की गयी। उनके घर सोने और मणिरत्नोंकी कमी तो थी ही नहीं, संकोच छोड़कर उनका उपयोग किया गया; परंतु भगवान्को धन-सम्पत्तिके अतिरिक्त कुछ और भी चाहिये।

प्रतिदिनके नियमानुसार किरात अपने समयपर भगवान् शंकरकी पूजा करने आया; परंतु मूर्तिको न पाकर सोचने लगा—'यह क्या, भगवान् तो आज हैं ही नहीं।' मन्दिरका एक-एक कोना छान डाला, एक-एक छिद्रको ध्यानपूर्वक देखा, मन्दिरके आस-पास भी यथासम्भव ढूँढ़नेकी चेष्टा की; परंतु सब व्यर्थ! उसके भगवान् उसे नहीं मिले। किरातकी दृष्टिमें वह मूर्ति नहीं थी, स्वयं भगवान् थे। अपने प्राणोंके लिये वह भगवान्की पूजा नहीं करता था, किन्तु उसने अपने प्राणोंको उनपर निछावर कर रखा था। अपने जीवन-सर्वस्व प्रभुको न पाकर वह विह्वल हो गया और बड़े आर्तस्वरसे पुकारने लगा—'महादेव! शम्भो! मुझे छोड़कर तुम कहाँ चले गये। प्रभो! अब एक क्षणका भी विलम्ब सहन नहीं होता। मेरे प्राण तड़फड़ा रहे हैं, छाती फटी जा रही है, आँखोंसे कुछ सूझता नहीं। मेरी करुण पुकार सुनो, मुझे जीवनदान दो। अपने दर्शनसे मेरी आँखें तृप्त करो। जगन्नाथ! त्रिपुरान्तक!! यदि तुम्हारे दर्शन नहीं होंगे तो मैं जीकर क्या करूँगा! मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ और सच कहता हूँ, तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकता। तुम क्या नहीं देख रहे हो कि तुम्हारे बिना मेरी क्या दशा हो रही है! आशुतोष! 'यह निष्ठुरता तुम्हारे अनुरूप नहीं है। क्या तुमने समाधि लगा ली? क्या कहीं जाकर सो गये! मेरी करुण पुकार क्या तुम्हारे कानोंतक नहीं पहुँच रही है? इस प्रकार प्रार्थना करते-करते

किरातकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा अविरलरूपसे बहने लगी। वह विकल हो गया, अपने हाथोंको पटकने तथा शरीरको पीटने लगा। उसने कहा—'अपनी जानमें मैंने कोई अपराध नहीं किया है, फिर क्या कारण है कि तुम चले गये? अच्छा, यही सही; मैं तो तुम्हारी पूजा करूँगा ही।' किरातने अपने हाथसे शरीरका बहुत-सा मांस काटकर उस स्थानपर रखा, जहाँ पहले शिवलिंग था। स्वस्थ हृदयसे, क्योंकि अब उसने प्राणत्यागका निश्चय कर लिया था, सरोवरमें स्नान करके सदाकी भाँति पूजा की और साष्टांग प्रणाम करके ध्यान करने बैठ गया।

ध्यान तो बहुत-से लोग करते हैं, परंतु वे तो कुछ समयतक कर्तव्यपालनके लिये ध्यान करते हैं। इसीसे वे अपने अन्तर्देशमें प्रवेश नहीं कर पाते, क्योंकि ध्यानके बादके लिये बहुत-सी वासनाओंको वे सुरक्षित रखे रहते हैं। किरातके चित्तमें अब एक भी वासना अवशेष न थी, वह केवल भगवान्‌का दर्शन चाहता था। ध्यान अथवा मृत्यु, यही उसकी साधना थी। यही कारण है कि बिना किसी विक्षेपके उसने लक्ष्यवेध कर लिया और उसका चित्त भगवान्‌के लीलालोकमें विचरण करने लगा। उसकी अन्तर्दृष्टि भगवान्‌की कर्पूरोज्ज्वल, भस्मभूषित गंगातरंगरमणीय जटाकलापसे शोभित एवं सर्पपरिवेष्टित अंगोंकी सौन्दर्यसुधाका पान करने लगी और वह उनकी लीलामें सम्मिलित होकर विविध प्रकारसे उनकी सेवा करने लगा। उसे बाह्य जगत्, शरीर अथवा अपने-आपकी सुधि नहीं थी; वह केवल अन्तर्जगत्‌की अमृतमयी सुरभिसे छक रहा था, मस्त हो रहा था। बाहरसे देखनेपर उसका शरीर रोमांचित था, आँखोंसे आँसूकी बूँदें ढुलक रही थीं, रोम-रोमसे आनन्दकी धारा फूटी पड़ती

थी, उस क्रूरकर्मा किरातके अन्तरालमें इतना माधुर्य कहाँ सो रहा था, इसे कौन जान सकता है?

किरातकी तन्मयता देखकर शिवजीने अपनी समाधि भंग की। वे उसके हृदयदेशमें नहीं, इन चर्मचक्षुओंके सामने—जिनसे हमलोग इस संसारको देखते हैं—प्रकट हुए। उनके ललाटदेश-स्थित चन्द्रने अपनी सुधामयी रश्मियोंसे किरातकी काया उज्ज्वल कर दी। उसके शरीरका अणु-अणु बदलकर अमृतमय हो गया। परंतु उसकी समाधि ज्यों-की-त्यों थी। भगवान्‌ने मानो अपनी अनुपस्थितिके दोषका परिमार्जन करते हुए किरातसे कहा—'हे महाप्राज्ञ! हे वीर!! मैं तुम्हारे भक्तिभाव और प्रेमका ऋणी हूँ, तुम्हारी जो बड़ी-से-बड़ी अभिलाषा हो, वह मुझसे कहो; मैं तुम्हारे लिये सब कुछ कर सकता हूँ।' भगवान्‌की वाणी और संकल्पने किरातको बाहर देखनेके लिये विवश किया। परंतु जब उसने जाना कि मैं जो भीतर देख रहा था, वही बाहर भी है, तब तो उसकी प्रेमभक्ति पराकाष्ठाको पहुँच गयी और वह सर्वांगसे नमस्कार करता हुआ श्रीभगवान्‌के चरणोंमें लोट गया। भगवान्‌के प्रेमपूर्वक उठानेपर और प्रेरणा करनेपर उसने प्रार्थना की—'भगवन्! मैं तुम्हारा दास हूँ, तुम मेरे स्वामी हो—मेरा यह भाव सर्वदा बना रहे और मुझे चाहे जितनी बार जन्म लेना पड़े, मैं तुम्हारी सेवामें संलग्न रहूँ। प्रतिक्षण मेरे हृदयमें तुम्हारा प्रेम बढ़ता ही रहे। प्रभो! तुम्हीं मेरी दयामयी माँ हो और तुम्हीं मेरे न्यायशील पिता हो। मेरे सहायक बन्धु और प्राणप्रिय सखा भी तुम्हीं हो। गुरुदेव! मेरे इष्टदेव और मेरे मन्त्र भी तुम्हीं हो। तुम्हारे अतिरिक्त तीनों लोकोंमें और कुछ नहीं है और तीनों लोक भी कुछ नहीं हैं, केवल तुम्हीं हो।' किरातकी निष्काम प्रेमपूर्ण प्रार्थना सुनकर भगवान् बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने

सर्वदाके लिये उसे अपना पार्षद बना लिया। उसे पार्षदरूपमें प्राप्त करके भगवान् शंकरको बड़ा आनन्द हुआ और वे अपने उल्लासको प्रकट करनेके लिये डमरू बजाने लगे।

भगवान्‌के डमरुके साथ ही तीनों लोकोंमें भेरी, शंख, मृदंग और नगारे बजने लगे। सर्वत्र 'जय-जय' की ध्वनि होने लगी। शिवभक्तोंके चित्तमें आनन्दकी बाढ़ आ गयी। यह आनन्द-कोलाहल तत्क्षण नन्दी वैश्यके घर पहुंच गया। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे अविलम्ब वहाँ पहुँचे। किरातके भक्तिभाव और भगवत्प्रसादको देखकर उनका हृदय गद्‌गद हो गया। और जो कुछ अज्ञानरूप मल था उनके चित्तमें कि 'भगवान् धन आदिसे प्राप्त हो सकते हैं' वह सब धुल गया। वे मुग्ध होकर किरातकी स्तुति करने लगे—'हे तपस्वी! तुम भगवान्‌के परम भक्त हो; तुम्हारी भक्तिसे ही प्रसन्न होकर भगवान् यहाँ प्रकट हुए हैं। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। अब तुम्हीं मुझे भगवान्‌के चरणोंमें अर्पित करो।' नन्दीकी बातसे किरातको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने तत्क्षण नन्दीका हाथ पकड़कर भगवान्‌के चरणोंमें उपस्थित किया। उस समय भोलेबाबा सचमुच भोले बन गये। उन्होंने किरातसे पूछा—'ये कौन सज्जन हैं? मेरे गणोंमें इन्हें लानेकी क्या आवश्यकता थी?' किरातने कहा— 'प्रभो! ये आपके सेवक हैं, प्रतिदिन रत्न-माणिक्यसे आपकी पूजा करते थे। आप इनको पहचानिये और स्वीकार कीजिये।' शंकरने हँसते हुए कहा—'मुझे तो इनकी बहुत कम याद पड़ती है। तुम तो मेरे प्रेमी हो, सखा हो; परंतु ये कौन हैं? देखो भाई! जो निष्काम हैं, निष्कपट हैं और हृदयसे मेरा स्मरण करते हैं, वे ही मुझे प्यारे हैं; मैं उन्हींको पहचानता हूँ। किरातने प्रार्थना की—'भगवन्! मैं आपका भक्त हूँ और यह मेरा प्रेमी है। आपने मुझे स्वीकार

किया और मैंने इसे, हम दोनों ही आपके पार्षद हैं।' अब तो भगवान् शंकरको बोलनेके लिये कोई स्थान ही नहीं था। भक्तकी स्वीकृति भगवान्‌की स्वीकृतिसे बढ़कर होती है। किरातके मुँहसे यह बात निकलते ही सारे संसारमें फैल गयी। लोग शत-शत मुखसे प्रशंसा करने लगे कि किरातने नन्दी वैश्यका उद्धार कर दिया।

उसी समय बहुत-से ज्योतिर्मय विमान वहाँ आ गये। भगवान् शंकरका सारूप्य प्राप्त करके दोनों भक्त उनके साथ कैलास गये और माँ पार्वतीके द्वारा सत्कृत होकर वहीं निवास करने लगे। यही दोनों भक्त भगवान् शंकरके गणोंमें नन्दी और महाकालके नामसे प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार नन्दीकी भक्तिके द्वारा किरातकी भक्तिको उत्तेजित करके और किरातकी भक्तिके द्वारा नन्दीकी भक्तिको पूर्ण करके आशुतोष भगवान् शंकरने दोनोंको स्वरूप-दान किया और कृतकृत्य बनाया।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

भक्त राजा पुण्यनिधि

दक्षिण देशमें पाण्ड्य और चोलवंशियोंके राज्य चिरकालसे प्रसिद्ध हैं। दोनों ही वंशोंमें बड़े-बड़े धर्मात्मा, न्यायशील, भगवद्भक्त राजा हो गये हैं। उनके प्रजापालनकी बात आज भी बड़े प्रेमसे कही-सुनी जाती है। वे प्रजाको सगे पुत्रसे बढ़कर मानते थे और प्रजा भी उन्हें मनुष्यके रूपमें परमेश्वर ही समझती थी। सब सुखी थे, सर्वत्र शान्ति थी। जिन दिनोंकी बात कही जा रही है, उन दिनों पाण्ड्यवंशकी राजधानी मधुरा थी—जिसे आजकल मदुरा कहते हैं। उसके एकछत्र अधिपति थे राजा पुण्यनिधि। पुण्यनिधिका नाम सार्थक था, वास्तवमें वे पुण्योंके खजाने ही थे। उनका सादा जीवन इतना उच्च और आदर्श था कि जो भी उन्हें देखता प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उनके जीवनमें शान्ति थी, उनके परिवारमें शान्ति थी और उनके राज्यमें शान्ति थी। उनके पुण्य-प्रतापसे, उनके शुद्ध व्यवहारसे सम्पूर्ण प्रजा पुण्यात्मा हो रही थी। शासनकी तो आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी, सब लोग बड़े प्रेमसे अपने-अपने कर्तव्यका पालन करते थे। उनके पास सेना प्रजाकी रक्षाके लिये ही थी। उनका सारा व्यवहार प्रेम और आत्मबलसे ही चलता था। वे समय-समयपर तीर्थयात्रा करते, यज्ञ करते, दान करते और दिल खोलकर दीन-दुःखियोंकी सहायता करते। सबसे बड़ा गुण उनमें यह था कि वे जो कुछ भी करते थे, भगवान्‌के लिये, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये और भगवान्‌के प्रेमके लिये। उनके चित्तमें न तो इस लोकके लिये कामना थी न परलोकके लिये। वे शुद्ध भावसे, भगवान्‌की आज्ञा समझकर उन्हींकी शक्तिसे, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये अपने कर्तव्योंका पालन करते थे।

एक बार अपने परिवार और सेनाके साथ राजा पुण्यनिधिने सेतुबन्ध रामेश्वरकी यात्रा की। इस बार इनकी यह इच्छा थी कि समुद्रके पवित्र तटपर, गन्धमादन पर्वतकी उत्तम भूमिमें अधिक दिनोंतक निवास किया जाय, इसलिये राज्यका सारा भार पुत्रको सौंप दिया था और वे आवश्यक सामग्री एवं सेवकोंको लेकर वहीं निवास करने लगे।

वैसे तो मधुरा भी एक परम पावन तीर्थ ही है। भगवती मीनाक्षी और भगवान् सोमसुन्दरकी क्रीडास्थली होनेके कारण उसकी महिमा भी कम नहीं है। परंतु रामेश्वर तो रामेश्वर ही है। यहाँ भगवान् रामने शिवलिंगकी प्रतिष्ठा की है। सब तीर्थ मूर्तिमान् होकर वहाँ निवास करते हैं। वहाँका समुद्र, वहाँके जंगल सभी मोहक हैं, तपोमय हैं और सात्त्विकताका संचार करनेवाले हैं। राजा पुण्यनिधिका मन वहीं रम गया। वे बहुत दिनोंतक वहीं रह गये। उनके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति थी। वे जहाँ जाते, जहाँ रहते वहीं भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन किया करते। मनमें कोई कामना तो थी नहीं, इसीलिये उनका अन्तःकरण शुद्ध था। शुद्ध अन्तःकरणमें जो भी संकल्प उठता है, वह भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये होता है और उस संकल्प-के अनुसार जो क्रिया होती है, वह भी भगवान्‌के लिये ही होती है। राजाके चित्तमें विष्णु और शिवके प्रति कोई भेदभाव नहीं था। वे कभी भगवान् शंकरकी पूजा करते-करते मस्त हो जाते तो कभी जंगलोंमें घूम-घूमकर भगवान् रामकी लीलाओंका अनुसन्धान करते। एक बार उनके मनमें आया कि एक महान् यज्ञ करके भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त की जाय। बड़ी तैयारीके साथ यज्ञ हुआ। यज्ञकी समाप्तिपर अवभृथ-स्नान करनेके लिये राजा धनुष्कोटि तीर्थमें गये। रामेश्वर तीर्थसे बारह-तेरह मीलकी

दूरीपर समुद्रमें धनुष्कोटि तीर्थ है। वहाँका समुद्र धनुषाकार है। कहते हैं कि लंकापर विजय प्राप्त करके जब भगवान् राम लौट रहे थे, तब उन्होंने यहाँ धनुषका दान किया था अथवा धनुषकी प्रत्यंचा उतार दी थी। उस तीर्थमें स्नान करके राजाको बड़ा आनन्द हुआ। भगवान्की स्मृतिके साथ जो भी काम किया जाता है, वह आनन्ददायक होता ही है।

राजा पुण्यनिधि जब स्नान, दान, नित्यकर्म और भगवान्की पूजा करके वहाँसे लौटने लगे, तब उन्हें रास्तेमें एक बड़ी सुन्दर कन्या मिली। वह कन्या क्या थी सौन्दर्यकी प्रतिमा थी। उसकी आँखोंमें पवित्रता थी, मुखपर प्रसन्नता थी और उसका सम्पूर्ण शरीर एक अद्भुत कोमलतासे भर रहा था, मानो भगवान्की प्रसन्नता ही मूर्तिमान् होकर आयी हो। वास्तवमें वह भगवान्की प्रसन्नता ही थी। न जाननेपर भी राजाका चित्त उसकी ओर खिंच गया, मानो वह उनकी अपनी ही लड़की हो। उन्होंने वात्सल्यस्नेहसे भरकर पूछा—'बेटी! तुम कौन हो, किसकी कन्या हो, यहाँ किसलिये आई हो?' कन्याने कहा—'मेरे माँ-बाप नहीं हैं, भाई-बन्धु भी नहीं हैं, मैं अनाथ हूँ। मैं आपकी पुत्री बननेके लिये आयी हूँ। मैं आपके महलमें रहूँगी; आपको देखा करूँगी; लेकिन एक शर्त है यदि कोई मुझे बलपूर्वक स्पर्श करेगा अथवा मेरा हाथ पकड़ लेगा तो आपको उसे दण्ड देना पड़ेगा। यदि आप ऐसा करेंगे तो बहुत दिनोंतक मैं आपके पास रहूँगी।'

राजा पुण्यनिधि यह नहीं समझ रहे थे कि मेरे अक्षय पुण्योंका फल ही मूर्तिमान् होकर आया है। उन्हें इस बातका बिलकुल पता नहीं था कि भगवान्की अर्धांगिनी लक्ष्मी ही मुझपर कृपा करनेके लिये भगवान्की इच्छासे उनसे प्रेम-कलह करके मेरे घर आयी हैं। उन्हें इस बातका अनुमान भी नहीं था

कि ये मेरे धर्मकी, सत्यकी, प्रतिज्ञाके पालनकी परीक्षा लेकर मेरे जीवनको और भी उज्ज्वलरूपमें जगत्‌के सामने रखनेके लिये, भगवान्‌को प्रकट करनेके लिये मेरे सामने प्रकट हुई हैं। भगवान्‌के प्यारे भक्त तो यों ही परम दयालु होते हैं, अनाथोंकी सेवा करनेके लिये उत्सुक रहते हैं; क्योंकि जो किसीका नहीं है, वह भगवान्‌का है। जो उसकी सेवा करता है, वह भगवान्‌के अपने जनकी सेवा करता है। राजा इस अनाथ लड़कीको कैसे छोड़ सकते थे। उनकी दृष्टिमें तो यह एक अनाथ लड़की ही नहीं थी, अस्पष्टरूपमें उनके हृदयके किसी कोनेमें यह बात अवश्य थी कि इसका मेरे इष्टदेवसे सम्बन्ध है। हो-न-हो यह उन्हींकी कोई लीला है। राजाने कहा—'बेटी! तुम जो कह रही हो, वह सब मैं करूँगा। मेरे घर कोई लड़की नहीं है, एक लड़का है; तुम अन्तःपुरमें मेरी धर्मपत्नीके साथ पुत्रीके रूपमें निवास करो। जब तुम्हारी अवस्था विवाहके योग्य होगी, तब तुम जैसा चाहोगी वैसा कर दूँगा।' कन्याने राजाकी बात स्वीकार की और उनके साथ समयपर राजधानीमें गयी। राजा पुण्यनिधिकी धर्मपत्नी विन्ध्यावली अपने पतिके समान ही शुद्ध हृदयकी थीं। अपने पतिको ही भगवान्‌की मूर्ति समझकर उनकी पूजा करती थीं। उनकी प्रसन्नताके लिये ही प्रत्येक चेष्टा करती थीं। उनका मन राजाका मन था, उनका जीवन राजाका जीवन था। यह कन्या पाकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। राजाने कहा, 'यह हमलोगोंकी लड़की है, इसके साथ परायेका-सा व्यवहार कभी नहीं होना चाहिये।' विन्ध्यावलीने प्रेमसे उस कन्याका हाथ पकड़ लिया और अपने पुत्रके समान ही इसका पालन-पोषण करने लगीं। इस प्रकार कुछ दिन बीते।

भगवान्‌की लीला बड़ी विचित्र है। वे कब किस बहाने

किसपर कृपा करते हैं, यह उनके सिवा और कोई नहीं जानता। राजा पुण्यनिधिपर कृपा करनेके लिये ही तो यह लीला रची गयी थी। अब वह अवसर आ पहुँचा। एक दिन वह कन्या सखियोंके साथ महलके पुष्पोद्यानमें फूल चुन रही थी। एक ही उम्रकी सब लड़कियाँ थीं, हँस-खेलकर आपसमें मनोरंजन कर रही थीं। उसी समय वहाँ एक ब्राह्मण आया। उनके कंधेपर एक घड़ा था, जिसमें जल भरा हुआ था। एक हाथसे वह उस घड़ेको पकड़े हुए था और दूसरे हाथमें छाता लिये हुए था, मानो अभी गंगास्नान करके लौट रहा हो। उसके शरीरमें भस्म लगा हुआ था और मस्तकपर त्रिपुण्ड्र था। हाथमें रुद्राक्षकी माला और मुखमें भगवान् शंकरका नाम। इस ब्राह्मणको देखकर वह कन्या स्तब्ध-सी हो गयी, वह पहचान गयी कि ब्राह्मणके वेशमें यह कौन है। यह छद्मवेशी ब्राह्मण इसी कन्याको तो ढूँढ़ रहा था। कन्याकी ओर दृष्टि जाते ही ब्राह्मणने पहचान लिया और जाकर उस कन्याका हाथ पकड़ लिया। कन्या चिल्ला उठी। उसकी सखियोंने भी साथ दिया। उनकी आवाज सुनते ही कई सैनिकोंके साथ राजा पुण्यनिधि वहाँ पहुँच गये और उन्होंने पूछा—बेटी! तुम्हारे चिल्लानेका क्या कारण है? किसने तुम्हारा अपमान किया है? कन्याकी आँखोंमें आँसू थे, वह खेद और रोषसे कातर हो रही थी। उसने कहा—'पाण्ड्यनाथ! इस ब्राह्मणने बलात् मेरा हाथ पकड़ लिया, अब भी यह निडर होकर पेड़के नीचे खड़ा है।' राजा पुण्यनिधिको अपनी प्रतिज्ञा याद हो आयी। वे सोचने लगे कि मैंने इस कन्याको वचन दिया है कि यदि कोई तुम्हारी इच्छाके विपरीत तुम्हारा हाथ पकड़ लेगा तो मैं उसे दण्ड दूँगा। 'इस कन्याको मैंने अपनी पुत्री माना है, मुझे अवश्य ही इस ब्राह्मणको दण्ड

देना चाहिये!' उनके चित्तमें इस बातकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि मेरे भगवान् इस रूपमें कृपा करने आये होंगे। उन्होंने सैनिकोंको आज्ञा दी और ब्राह्मणदेवता पकड़ लिये गये। हाथोंमें हथकड़ी और पैरोंमें बेड़ी डालकर उन्हें रामनाथके मन्दिरमें डाल दिया गया! कन्या प्रसन्न होकर अन्त:पुरमें गयी और राजा अपनी बैठकमें गये।

रात हुई। राजाने स्वप्नमें देखा कि जिस ब्राह्मणको कैद किया गया है वह तो ब्राह्मण नहीं है, साक्षात भगवान् हैं। वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल छवि, चारों करकमलोंमें शंख-चक्र-गदा-पद्म, शरीरपर पीताम्बर एवं वक्ष:स्थलपर कौस्तुभमणि और वनमाला धारण किये हुए हैं, मन्द-मन्द मुसकराते हुए मुखमेंसे दाँतोंकी किरणें निकलकर दिशाओंको उज्ज्वल कर रही हैं। मकराकृत कुण्डलोंकी छटा निराली ही है। गरुड़के ऊपर शेषशय्यापर विराजमान हैं। साथ ही राजाकी वह कन्या लक्ष्मीरूपमें खिले हुए कमलपर बैठी है। काले-काले घुँघराले बाल हैं, हाथमें कमल हैं, बड़े-बड़े दिग्गज स्वर्ण कलशोंमें अमृत भरकर अभिषेक कर रहे हैं। अमूल्य रत्न और मणियोंकी माला पहने हुए हैं। विश्वकसेन आदि पार्षद, नारदादि मुनिगण उनकी सेवा कर रहे हैं। महाविष्णुके रूपमें उस ब्राह्मणको और महालक्ष्मीके रूपमें अपनी पुत्रीको देखकर राजा पुण्यनिधि चकित—स्तम्भित हो गये। स्वप्न टूटते ही वे अपनी कन्याके पास गये। परन्तु यह क्या? कन्या, कन्याके रूपमें नहीं है, स्वप्नमें जो रूप देखा था वही रूप सामने है। महालक्ष्मीको साष्टांग प्रणाम करके वे उनके साथ ही रामनाथमन्दिरमें गये। वहाँ ब्राह्मणको भी उसी रूपमें देखा, जिस रूपमें स्वप्नके समय देखा था। अपने अपराधका स्मरण करके वे मूर्च्छित-से

हो गये। त्रिलोकीके नाथको मैंने कैदमें डाल दिया। जिसकी पूजा करनी चाहिये, उसको बेड़ीसे जकड़ दिया! धिक्कार है, मुझे सौ-सौ बार धिक्कार है। बड़े-बड़े योगीलोग जिन्हें अपने हृदयके सिंहासनपर विराजमान करके अपना सर्वस्व समर्पित कर देते हैं, अपने-आपको जिनका समझकर कृतार्थ हो जाते हैं, उन्हींके हाथोंमें मैंने हथकड़ी डाल दी। मुझसे बड़ा अपराधी भला, और कौन हो सकता है! राजा पुण्यनिधिका हृदय फटने लगा, शरीर शिथिल हो गया, उनकी मृत्युमें अब आधे क्षणका भी विलम्ब नहीं था। इतनेमें ही उन्हें भगवान्‌की कृपाका स्मरण हो आया। ऐसी अद्भुत लीला! भला उन्हें कौन बाँध सकता है। यशोदाने बाँधा था प्रेमसे और मैंने बाँधा अपनी शक्तिके घमण्डसे, रोषसे। पर मुझसे भी बँध गये! प्रभो! यह तुम्हारी कृपापरवशता नहीं तो और क्या है?

राजा पुण्यनिधिने प्रेममुग्ध हृदयसे, गद्गद कण्ठसे, आँसू भरी आँखोंसे, सिर झुकाकर रोमांचित शरीरसे, हाथ जोड़कर स्तुति की—'प्रभो! मैं आपके चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ। आप मुझपर कृपा करें, प्रसन्न हों; मैंने अनजानमें यह अपराध किया है। परन्तु अपराध चाहे जैसे किया गया हो, है अपराध ही। हे कमलनयन! हे कमलाकान्त! आपने रामावतार लेकर रावणका नाश किया, नृसिंहावतार ग्रहण करके प्रह्लादको बचाया। आप सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त रहनेपर भी भक्तोंके लिये समय-समयपर प्रकट हुआ करते हैं। आपकी मूर्ति कृपामयी है; आप यदि अपनेको प्रकट न करें तो संसारी लोग भला, आपको कैसे पहचान सकते हैं। हे दयामूर्ते! मैंने आपको हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़कर महान् अन्याय और अपराध किया है। यदि आप मुझपर कृपा नहीं करेंगे तो मेरे निस्तारका कोई साधन नहीं है। आपके चरणोंमें बार-बार नमस्कार करता हूँ।'

राजा पुण्यनिधिने महालक्ष्मीकी ओर दृष्टि करके कहा—'हे देवी! जगद्धात्री! आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ। आपका निवास भगवान्‌का वक्षःस्थल है। मैंने साधारण कन्या समझकर आपको कष्ट दिया है। आपकी महिमाका भला, कौन वर्णन कर सकता है। सिद्धि, सन्ध्या, प्रभा, श्रद्धा, मेधा, आत्म-विद्या आदिके रूपमें आप ही प्रकट हो रही हैं! हे माँ! संसारकी रक्षाके लिये आप ही वेदोंके रूपमें प्रकट हुई हैं। हे ब्रह्मस्वरूपिणी! अपनी कृपादृष्टिसे मुझे जीवनदान दो।' इस प्रकार स्तुति करके राजाने भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो! मैंने अनजानमें जो अपराध किया है, उसे आप क्षमा कर दीजिये, यह सम्पूर्ण संसार और इसमें रहनेवाले सब जीव आपके नन्हे-नन्हे शिशु हैं। आप सबके एकमात्र पिता हैं। मधुसूदन! शिशुओंका अपराध गुरुजन क्षमा करते ही आये हैं। प्रभो! जिन दैत्योंने अपराध किया था उनको तो आपने अपने स्वरूपका दान किया। भगवन्! आप मेरे इस अपराधको क्षमा करें। हे नाथ! कृष्णावतारमें पूतना आपको मार डालनेकी इच्छासे आयी थी, उसे आपने अपने चरण-कमलोंमें स्थान दिया। हे कृपानिधे! लक्ष्मीकान्त! आप अपनी कृपा-कोमल दृष्टि मेरे ऊपर भी डालें!'

पुण्यनिधिकी प्रार्थना सुनकर भगवान्‌ने कहा—'हे राजन्! मुझे कैद करनेके कारण भयभीत होना उचित नहीं है। मैं तो स्वभावसे ही प्रेमियोंका कैदी हूँ, भक्तोंके वशमें हूँ। तुमने मेरी प्रसन्नताके लिये यज्ञ किया था। जो मेरी प्रसन्नताके लिये कर्म करते हैं, वे मेरे भक्त हैं, तुम्हारे यज्ञसे मैं तुम्हारे अधीन हो गया हूँ। इसीसे चाहे तुम हथकड़ी-बेड़ी पहनाओ या मत पहनाओ, मैं तुम्हारे प्रेमकी बेड़ीमें बँधा हुआ हूँ। मैं अपने भक्तोंके अपराधको अपराध ही नहीं गिनता। इसलिये डरनेकी कोई बात

नहीं है। ये महालक्ष्मी मेरी अर्द्धांगिनी शक्ति हैं। तुम्हारी भक्तिकी परीक्षाके लिये ही मेरी सम्मतिसे ये तुम्हारे पास आयी थीं। तुमने इनकी रक्षा करके, अनाथ बालिकाके रूपमें होनेपर भी इन्हें अपने घरमें रखकर और सेवा करके मुझे सन्तुष्ट किया है। ये मुझसे अभिन्न हैं, जगत्‌की आदि जननी हैं; इनका सेवक मेरा सेवक है। इनकी पूजा करके तुमने मेरी पूजा की है। तुमने अपराध नहीं किया है, मुझे प्रसन्न किया है। इनके साथ तुमने जो प्रतिज्ञा की थी उसकी रक्षाके लिये मुझे कैदमें डालना किसी प्रकार अनुचित नहीं है। तुमने इनकी रक्षा की है, इसलिये मैं तुमपर प्रसन्न हुआ हूँ। अपनी प्राणप्रियाके लिये अपने प्यारे भक्तके हाथसे बँध जाना मेरे लिये कितना प्रियकर है, इसे मैं ही जानता हूँ। ये लक्ष्मी तुम्हारी पुत्री हैं ऐसा ही समझो। यह सत्य है, इसमें सन्देह नहीं।'

महालक्ष्मीने कहा—'राजन्! तुमने बहुत दिनोंतक मेरी रक्षा की है, इसलिये मैं तुमपर बहुत ही प्रसन्न हूँ! भगवान्‌ने और मैंने तुम्हारी भक्तिको शुद्ध करनेके लिये प्रेम-कलहका बहाना बनाया और इस प्रकार हम दोनों ही तुम्हारे सामने प्रकट हुए। तुमने कोई अपराध नहीं किया। हम तुमपर प्रसन्न हैं। हमारी कृपासे तुम सर्वदा सुखी रहोगे। सारे भूमण्डलका ऐश्वर्य तुम्हें प्राप्त हो। जबतक जीवित रहो, हमारे चरणोंमें तुम्हारी अविचल भक्ति बनी रहे। तुम्हारी बुद्धि कभी पापमें न जाय, सदा धर्ममें ही लगी रहे। तुम्हारा हृदय निरन्तर भक्ति-रससे डूबा रहे। इस जीवनके अन्तमें तुम हमारा सायुज्य प्राप्त करो।' इतना कहकर महालक्ष्मी भगवान्‌के वक्षःस्थलमें समा गयीं। भगवान्‌ने कहा—'राजन्! यह जो तुमने मुझे बाँधा है, यह बड़ा मधुर बन्धन है। मैं नहीं चाहता कि इससे छूट जाऊँ और इसकी स्मृति यहीं लुप्त हो जाय।

इसलिये अब मैं यहाँ इसी रूपमें निवास करूँगा और मेरा नाम 'सेतुमाधव' होगा!' इतना कहकर भगवान् चुप हो गये।

राजा पुण्यनिधिने भगवान्‌की इस अर्चा-मूर्तिकी पूजा की और रामनाथ-लिंगकी सेवा करके अपने घर गये। जीवनपर्यन्त वे अपनी पत्नीके साथ भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करते रहे। अन्तमें दोनों भगवान्‌की सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करके भगवान्‌से एक हो गये। इस प्रकार अद्भुत प्रेममयी लीला करके भगवान्‌ने अपने भक्तको अपनाया और भक्तके द्वारा जो बन्धन प्राप्त हुआ था, उसको सर्वदाके लिये स्वीकार करके अपनी कृपा और प्रेमकी परवशताको स्पष्टरूपसे प्रकट कर दिया।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

शिवभक्त महाकाल

प्राचीन कालमें वाराणसी नगरीमें माण्टि नामके एक महायशस्वी ब्राह्मण रहते थे। वे शिवजीके बड़े भक्त थे और सदा शिवमन्त्रका जप किया करते थे। प्रारब्धवश उनके कोई सन्तान नहीं थी। इसलिये उन्होंने पुत्रकी कामनासे लगातार सौ वर्षतक शिवमन्त्र-जपका अनुष्ठान किया। सौ वर्ष पूरे हो जानेपर एक दिन भगवान् शंकर उनकी तपश्चर्यासे प्रसन्न हो उनके सामने प्रकट हुए और बोले—'वत्स माण्टि! मैं तुम्हारी आराधनासे प्रसन्न हूँ। तुम्हारा मनोरथ शीघ्र ही पूर्ण होगा और तुम्हें मेरे ही समान प्रभावशाली एवं शक्तिसम्पन्न मेधावी पुत्ररत्न प्राप्त होगा, जो तुम्हारे समग्र वंशका उद्धार करेगा।' यों कहकर शिवजी अन्तर्धान हो गये और माण्टि भगवान् शंकरके योगिदुर्लभ, नयनाभिराम रूपके दर्शन कर और उनसे मनचाहा वरदान पाकर अत्यन्त हर्षित हुए।

माण्टिकी पत्नीका नाम चटिका था। वह महान् पतिव्रता एवं तपस्याकी मानो मूर्ति ही थी। समय पाकर तपोमूर्ति ब्राह्मण-पत्नी गर्भवती हुई। क्रमशः गर्भ बढ़ने लगा और उसके साथ-साथ उस सतीका तेज और भी विकसित हो उठा; किन्तु पूरे चार वर्ष व्यतीत हो गये, सन्तान गर्भसे बाहर नहीं आयी। इस घटनाको देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये। माण्टिने सोचा कि अवश्य ही यह कोई अलौकिक बालक है, जो गर्भसे बाहर नहीं आना चाहता। अतः वे अपनी पत्नीके पास जाकर गर्भस्थ शिशुको सम्बोधन करके कहने लगे—'वत्स! सामान्य पुत्र भी अपने माता-पिताके आनन्दको बढ़ानेवाले होते हैं; फिर तुम तो अत्यन्त पवित्र

चरित्रवाली माताके उदरमें आये हो और भगवान् शंकरके अनुग्रहसे हमारी दीर्घकालकी तपस्याके फलरूपमें प्राप्त हुए हो। ऐसी दशामें क्या तुम्हारे लिये यह उचित है कि तुम माताको इस प्रकार कष्ट दे रहे हो और हमारी भी चिन्ताके कारण बन रहे हो? हे पुत्र! यह मनुष्य-जन्म ही धर्म, अर्थ, काम, और मोक्षका साधक है। शास्त्रोंमें इसे देवताओंके लिये भी दुर्लभ बताया गया है। फिर तुम इस लोकमें आते हुए इतना भयभीत क्यों हो रहे हो? अन्यान्य योनियोंके प्राणी तो मनुष्य-योनिके लिये तरसते रहते हैं और निरन्तर विधातासे यह प्रार्थना करते हैं कि जिस योनिमें नाना प्रकारके धर्मोंका अर्जन किया जाता है तथा देवताओं एवं पितरोंकी अर्चना करके महान् फलकी प्राप्ति की जाती है, उस मनुष्य-योनिमें हमारा जन्म कब होगा! उस देववांछित अतुलनीय मनुष्य-जन्मको पाकर भी उसके प्रति अनादरका भाव दिखलाते हुए तुम किस कारण माताके उदरसे बाहर नहीं आ रहे हो? वहाँ तो तुम आसानीसे हिल-डुल भी नहीं सकते होगे और घोर यन्त्रणाका अनुभव कर रहे होगे; फिर क्यों नहीं तुम शीघ्र ही बाहर आकर हम सब लोगोंको आनन्दित करते?'

गर्भ बोला—'हे तात! जो कुछ आपने कहा, वह सब मुझे ज्ञात है। मैं यह भी जानता हूँ कि इस भूमण्डलमें मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है; परन्तु मैं कालमार्गसे अत्यन्त भयभीत हूँ। वेदोंमें काल और अर्चि नामके दो मार्गोंका वर्णन आता है। कालमार्गसे जीव कर्मोंके चक्करमें पड़ जाता है और अर्चिमार्गसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। कालमार्गसे चलनेवाले जीव चाहे पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें ही क्यों न चले जायँ, वहाँ भी उन्हें सुखकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष निरन्तर इस चेष्टामें

लगे रहते हैं कि जिससे उन्हें इस घोररूप गम्भीर कालमार्गमें न भटकना पड़े। अतः यदि आप कोई ऐसा उपाय कर सकें, जिससे मेरा मन नाना प्रकारके सांसारिक दोषोंसे लिप्त न हो, तो मैं इस मनुष्यलोकमें जन्म ले सकता हूँ।'

गर्भस्थ शिशुकी इस शर्तको सुनकर माण्टि और भी भयभीत हो गये। उन्होंने सोचा कि भगवान् शंकरको छोड़कर कौन इस शर्तको पूरा कर सकता है! जिन्होंने कृपा करके मेरे मनोरथको पूर्ण किया है, वे ही इस शर्तको भी पूरा करेंगे। यों सोचकर वे मन-ही-मन भगवान् शंकरकी शरणमें गये और उनसे प्रार्थना करने लगे—'महेश्वर! आपको छोड़कर मेरे पुत्रकी प्रार्थनाको कौन पूरा कर सकता है! आपने ही कृपा करके इस सन्तानको दिया है, अब आप ही ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे यह भूमिष्ठ हो जाय।' माण्टिकी प्रार्थना भगवान् आशुतोषने सुन ली। उन्होंने धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्यादिको मूर्तरूपमें बुलाकर कहा कि 'देखो, माण्टिपुत्रको विपरीत ज्ञान हो गया है, अतः तुमलोग जाकर उसे समझाओ और ठीक रास्तेपर लाओ। भगवान् महेश्वरकी आज्ञा पा, उनकी सारी विभूतियाँ साकार विग्रह धारणकर गर्भस्थ शिशुके निकट गयीं और उसे सम्बोधित कर कहने लगीं—'हे महामति माण्टिपुत्र! तुम किसी प्रकारका भय न करो। भगवान् शंकरकी कृपासे हम धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य कभी तुम्हारे मनका परित्याग नहीं करेंगे। अतः तुम निर्भय होकर गर्भसे बाहर निकल जाओ।' यों कहकर वे चारों दिव्य मूर्तियाँ चुप हो गयीं। उनके चुप हो जानेपर अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य भी विकराल मूर्तियाँ धारणकर भगवान् शंकरकी आज्ञासे वहाँ उपस्थित हुए तथा माण्टिपुत्रसे कहने लगे कि 'तुम यदि हमारे भयसे बाहर न आते होओ तो इस भयका

त्याग कर दो। भगवान् शंकरकी आज्ञासे हम तुम्हारे भीतर कदापि प्रवेश नहीं कर सकेंगे।'

इस प्रकार धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य तथा उनके विरोधी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्यकी आश्वासन-वाणीको सुनते ही बालक माण्टिपुत्र अविलम्ब गर्भसे बाहर निकल आया और काँपते-काँपते रुदन करने लगा। उस समय भगवान् शंकरकी विभूतियोंने माण्टिसे कहा कि 'देखो माण्टि! तुम्हारा पुत्र अब भी कालमार्गके भयसे काँप और रो रहा है। अतः तुम्हारा यह पुत्र कालभीति नामसे विख्यात होगा।' यों कहकर विभूतिगण अपने स्वामी शंकरजीके पास चले गये।

बालक कालभीति शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति क्रमशः बढ़ने लगा। पिताने क्रमशः उसके उपनयनादि संस्कार किये और उसे पाशुपतव्रतमें परिनिष्ठित कर शिव-पंचाक्षरमन्त्रकी दीक्षा दी। कालभीति अपने पिताके समान ही पंचाक्षरमन्त्रके परायण हो गये। उन्होंने तीर्थयात्राके प्रसंगसे विविध रुद्रक्षेत्रोंमें भ्रमण किया और घूमते-घूमते स्तम्भतीर्थ नामक क्षेत्रमें पहुँचे, जहाँका प्रभाव उन्होंने लोगोंसे पहले ही सुन रखा था। वहाँ उन्होंने मही नामकी नदीके जलमें स्नान किया और उसके भीतर खड़े होकर बहुत जप किया। वहाँसे लौटते समय निकटवर्ती एक बिल्व-वृक्षको देखकर उसकी छायामें बैठकर एक लाख जप और किया। उस बिल्ववृक्षके नीचे बैठते ही उन्होंने एक अलौकिक शान्तिका अनुभव किया। वहाँ जप करते समय उनकी इन्द्रियाँ अपने-आप अन्तर्मुखी होकर लयको प्राप्त हो गयीं। उस समय वे अपनेको केवल परमानन्दस्वरूप अनुभव करने लगे। वह आनन्द ऐसा विलक्षण था कि स्वर्गका सुख भी उसके सामने कोई चीज न था। जिस प्रकार गंगाजल अपने

ढंगकी एक ही चीज है, उसी प्रकार उस आनन्दकी भी कोई उपमा नहीं दी जा सकती।

कुछ काल बाद जब कालभीति पुनः अपनी स्वाभाविक अवस्थाको लौटे, तब वे अत्यन्त विस्मित होकर मन-ही-मन कहने लगे—'अहा, इस स्थानमें मुझे जो आनन्द मिला, वह इससे पहले किसी भी स्थानमें प्राप्त नहीं हुआ था। इस समय मेरा चित्त नितान्त निर्विकार एवं इन्द्रिय-समूह गंगाजलकी भाँति निर्मल हो गया है। सभी जीवोंके प्रति मेरी परम प्रीति हो गयी है। यह सारा विश्व मुझे आनन्ददायक प्रतीत हो रहा है। मेरा मन भी इस बातको भलीभाँति समझ गया है कि जगत्‌में धर्म ही एकमात्र सार वस्तु है। अहा, इस स्थानका कैसा अपूर्व प्रभाव है। लोग सत्य ही कहते हैं कि जो स्थान निर्दोष, पवित्र एवं निरुपद्रव होता है, वहाँ बैठकर धर्मकार्य करनेसे उसका हजारगुना अधिक फल होता है। अतः क्यों न मैं इसी जगह रहकर दीर्घकालतक तपश्चर्या करूँ? मैं अब घूम भी काफी चुका हूँ, अतः जगह-जगह भटकनेकी अपेक्षा एक स्थानपर बैठकर अपने इष्टदेवकी आराधना करना मेरे लिये अधिक लाभदायक होगा। जो लोग एक स्थानमें टिककर नहीं बैठते और अमुक स्थान अच्छा है अथवा अमुक—इसी खोजमें जीवनभर इधर-उधर भटकते फिरते हैं; उन्हें सिद्धि अथवा शाश्वत सुख नहीं प्राप्त होता। उनका जीवन यात्राके क्लेशमें ही बीत जाता है।'

यह सोचकर कालभीति वहीं उस बिल्ववृक्षके नीचे पैरके अँगूठोंके अग्रभागपर खड़े होकर, निर्जल और निराहार रहकर, एकाग्र मनसे रुद्रमन्त्रका जप करने लगे। उन्होंने यह नियम ले लिया कि सौ वर्षतक भोजनकी तो कौन कहे, जलका एक बूँद भी ग्रहण नहीं करूँगा। ज्यों ही सौ वर्ष समाप्त होनेको आये कि

एक अज्ञात पुरुष जलसे भरा हुआ एक घड़ा लेकर कालभीतिके पास आया और प्रणाम करके उस तपस्वी ब्राह्मणसे कहने लगा—'हे महामति कालभीति! आज तुम्हारा अनुष्ठान भगवान् शंकरकी कृपासे पूर्ण हो गया है। तुम्हें भूख-प्यास सहते पूरे सौ वर्ष हो गये हैं। मैं बड़े प्रेमसे अत्यन्त पवित्र होकर यह जल तुम्हारे लिये ले आया हूँ। तुम कृपा करके इसे स्वीकार करो और मेरे श्रमको सफल करो।'

कालभीतिको वास्तवमें प्यास बहुत सता रही थी। अंजलिभर पानीके लिये उनके प्राण छटपटा रहे थे। परन्तु सहसा एक अपरिचित व्यक्तिके द्वारा लाया हुआ जल ग्रहण करना उन्होंने उचित नहीं समझा। वे शंकापूर्ण नेत्रोंसे उस आगन्तुक पुरुषकी ओर देखते हुए बोले—'आप कौन हैं? आपकी जाति क्या है और आपका आचार कैसा है? कृपाकर बताइये। आपकी जाति और आचारको जान लेनेके बाद ही मैं आपके लाये हुए जलको ग्रहण कर सकता हूँ।' इसपर वह अपरिचित व्यक्ति बोला—'हे तपोधन! मेरे माता-पिता इस लोकमें हैं या नहीं, इसका भी मुझे पता नहीं है। उनके विषयमें मैं कुछ भी नहीं जानता। मैं सदा इसी ढंगसे रहता हूँ। आचार अथवा धर्मसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। अतः आचारकी बात मैं क्या कह सकता हूँ? सच पूछिये तो मैं किसी आचार-विचारका पालन भी नहीं करता।'

कालभीति बोले—'यदि ऐसी बात है, तब मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ। मैं आपके दिये हुए जलको ग्रहण नहीं कर सकता। इस सम्बन्धमें मेरे गुरुदेवने जो श्रुतिसम्मत उपदेश मुझे दिया है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। जिसके कुलका हाल अथवा रक्तशुद्धिका पता न हो, साधु व्यक्ति उसके दिये हुए अन्न-जलको ग्रहण नहीं करते। इसी प्रकार जो व्यक्ति भगवान्के

सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञान नहीं रखता और न उनकी भक्ति करता है, उसके हाथका अन्न-जल भी ग्रहण करनेयोग्य नहीं होता। भगवान्‌को अर्पण किये बिना जो व्यक्ति भोजन करता है उसे बड़ा पाप लगता है। गंगाजलसे भरे हुए घड़ेमें एक बूँद मदिराके मिश्रित हो जानेसे जैसे वह अपवित्र हो जाता है, उसी प्रकार भगवान्‌की भक्ति न करनेवालेका अन्न चाहे कितनी ही पवित्रतासे बनाया गया हो, अपवित्र ही होता है। परन्तु यदि कोई मनुष्य शिवभक्त भी हो, परंतु उसका जाति और आचार भ्रष्ट हो तो उसका अन्न भी नहीं खाया जाता। अन्न-जलके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें दोनों बातोंका विचार रखा गया है। अन्न या जल जो कुछ भी ग्रहण किया जाय वह भगवान्‌को अर्पित हो और जिसके द्वारा वह अन्न अथवा जल लाया गया है, वह जाति तथा आचारकी दृष्टिसे पवित्र हो।'

कालभीतिके इन वचनोंको सुनकर वह मनुष्य हँसने लगा और बोला—'अरे तपस्वी! तुम तप एवं विद्यासे सम्पन्न होनेपर भी मुझे नितान्त मूर्ख प्रतीत होते हो। तुम्हारी इस बातको सुनकर मुझे हँसी आती है। अरे नादान! क्या तुम नहीं जानते कि भगवान् शिव सभी भूतोंके अन्दर समानरूपसे निवास करते हैं? ऐसी दशामें किसीको पवित्र और किसीको अपवित्र कहना कदापि उचित नहीं है। अपवित्र कहकर किसीकी निन्दा करना प्रकारान्तरसे उसके अन्दर रहनेवाले भगवान् शंकरकी ही निन्दा करना है। जो मनुष्य अपने अथवा दूसरेके अन्दर भगवान्‌की सत्ताके सम्बन्धमें सन्देह करता है, मृत्यु उस वेदज्ञानी मनुष्यके लिये विशेषरूपसे भयदायक होती है। फिर जरा विचारो तो सही कि जलमें अपवित्रता आ ही कैसे सकती है। जिस पात्रमें इसे मैं लाया हूँ, वह मिट्टीका बना हुआ है—मिट्टी भी ऐसी-वैसी

नहीं, किन्तु आवेंकी आगमें भलीभाँति तपायी हुई; और फिर वह जलके द्वारा शुद्ध हो चुकी है। मृत्तिका, जल और अग्नि —इनमेंसे कौन-सी वस्तु अपवित्र है? यदि कहो कि हमारे संसर्गसे यह जल अपवित्र हो गया है, तो यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि तुम और हम दोनों ही तो इस मिट्टीसे ही बने हैं और मिट्टीपर ही सदा रहते हैं। मेरे संसर्गसे यदि जल अशुचि हो सकता है तो जिस जमीनपर मैं खड़ा हूँ, वह जमीन भी मेरे संसर्गसे अपवित्र हो जानी चाहिये। तब तो तुम्हें भूमिको छोड़कर आकाशमें विचरण करना होगा। इन सब बातोंपर विचार करनेसे तुम्हारी उक्ति मुझे नितान्त मूर्खतापूर्ण प्रतीत होती है।'

कालभीतिने कहा—'अवश्य ही भगवान् शंकरका भी भूतोंमें निवास है। परन्तु इस बातको लेकर जो सब भूतोंकी व्यवहारमें समानता करता है, वह अन्नादिका परित्यागकर मृत्तिका अथवा भस्मसे उदर-पूर्ति क्यों नहीं करता? क्योंकि उसके मतानुसार अन्नमें जो भगवान् हैं, वे ही तो मृत्तिका और भस्ममें भी हैं। परन्तु उसकी यह मान्यता ठीक नहीं। परमार्थ-दृष्टिसे सब कुछ शिवरूप होनेपर भी व्यवहारमें भेद आवश्यक है। इसीलिये शास्त्रमें नाना प्रकारके शुद्धिके विधान पाये जाते हैं और उनके फल भी अलग-अलग निर्दिष्ट हुए हैं। शास्त्रकी आज्ञाके विरुद्ध आचरण करना कदापि उचित नहीं है। जो शास्त्र भगवान् शिवकी सत्ता सर्वत्र बतलाते हैं, वे ही व्यवहारमें भेदका भी विधान करते हैं। शास्त्रकी एक बात तो मानी जाय और दूसरी न मानी जाय, यह कहाँतक उचित है? दोनों ही बातें अपनी-अपनी दृष्टिसे ठीक हैं और दोनोंकी परस्पर संगति भी है। देखो, विधाताने सृष्टिके आदिमें इस रूपात्मक जगत्का निर्माण किया और उसे नामके द्वारा इस प्रकार बाँध दिया, जैसे रस्सीके द्वारा गायको

बाँध दिया जाता है। यह नाम-प्रपंच चार प्रकारका है—ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य। ध्वनिका स्वरूप नादात्मक है—अकारादि 'वर्ण', संज्ञा है। एक अर्थके बोधक वर्णसमूहको पद कहते हैं। जैसे '**शिवं भजेत्**' (शिवको भजे), यहाँ '**शिवम्**' और '**भजेत्**' ये दो पद हैं। और परस्परसम्बन्ध पदोंकी समष्टिको वाक्य कहते हैं। जैसे '**शिवं भजेत्**' यह पद-समूह वाक्य है।

वाक्य तीन प्रकारके कहे गये हैं—(१) प्रभुसम्मित, (२) सुहृत्सम्मित और (३) कान्तासम्मित। अधिकारसम्पन्न स्वामी जिस प्रकार अपने पोष्य अथवा भृत्यको आज्ञा देता है कि अमुक कार्य करो और अमुक न करो और वह कार्य ठीक आज्ञानुसार ही किया जाता है, उसी प्रकार श्रुति और स्मृतिका उपदेश हमारे लिये सर्वथा पालनीय है, उसमें जरा भी आनाकानी करनेकी आवश्यकता नहीं; इसीलिये श्रुति और स्मृतिके उपदेशको प्रभुसम्मित उपदेश कहा गया है। इतिहास-पुराणादि शास्त्र मित्रकी भाँति मधुर वचनोंद्वारा हमारे हितका उपदेश करते हैं—हमें कर्तव्यकी ओर प्रवृत्त करते हैं तथा उसके न करनेमें हानि बतलाते हैं; इसलिये उनके उपदेशको सुहृत्सम्मित उपदेश कहा गया है। काव्यादिके द्वारा जो उपदेश हमें मिलता है, उसे कान्तासम्मित उपदेश कहते हैं; क्योंकि काव्य अनुकूल पत्नीकी भाँति नाना प्रकारसे हमारा मनोरंजन करते हुए बड़े ही रसीले शब्दोंमें हमें हितका उपदेश करते हैं। श्रुति कहती है कि बाहर-भीतरकी पवित्रता रखो। इस बातको इतिहास-पुराण इन शब्दोंमें कहते हैं—यदि परलोकमें सुखी रहना चाहते हो और कष्टोंसे बचना चाहते हो तो शौचाचारका पालन करो। पृथ्वीपर रहनेवाले व्यक्तियोंके लिये शौचाचारका पालन अवश्यकर्तव्य है। ऐसी दशामें यदि तुम श्रुतियोंकी अवहेलना कर 'सब कुछ शिवमय है'

यह कहकर व्यवहारके भेदको मिटाना चाहते हो तो फिर बताओ, क्या श्रुति-पुराणादि शास्त्र व्यर्थ नहीं हो जायँगे? तुम्हारी बात यदि ठीक हो तो सप्तर्षि प्रभृति जो क्रिया-कुशल ब्राह्मण एवं क्षत्रियादि हो गये हैं, जिन्होंने वेद-शास्त्रके अनुसार आचरण किया है, वे सभी मूर्ख ठहरते हैं और भगवद्गीतादि शास्त्रोंमें जो यह बात कही गयी है कि सत्त्वगुणमें स्थित रहनेवाले पुरुष ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होते हैं, राजस व्यक्ति मध्यम गतिके अधिकारी होते हैं और तमोगुणी पुरुष अधोगतिको प्राप्त करते हैं तथा सात्त्विक आहारसे सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, राजसिक आहारसे रजोगुणकी और तामसिक आहारसे तमोगुणकी—वह सब भी मिथ्या हो जाती है।

'आप जो यह कहते हैं कि भगवान् शिव सभी भूतोंमें स्थित हैं, यह ठीक है। भगवान् शिव सर्वत्र हैं, यह बात अक्षरशः सत्य है। फिर भी व्यक्तिभेदसे उनकी सत्तामें भी भेद कहा जा सकता है। इसके लिये मैं आपको एक दृष्टान्त देता हूँ। यद्यपि सभी सोनेके गहने सुवर्ण नामकी एक ही धातुसे बने हुए होते हैं, तब भी सबका सोना एक ही दामका अथवा एक ही रंगका नहीं होता। उनमेंसे एकका सोना एकदम शुद्ध—टकसाली होता है, दूसरेका उसकी अपेक्षा कुछ नीचे दर्जेका होता है और तीसरेका और भी निकृष्ट होता है। परंतु यह तो मानना ही पड़ेगा कि सभी सुवर्णके गहनोंमें सोना मौजूद है। साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि सभी गहनोंका सोना एक-सा नहीं है। इसी प्रकार भगवान् शिव भी सब भूतोंमें हैं अवश्य, परंतु एकके अन्दर उनका प्रकाश अत्यन्त शुद्ध है, दूसरेके अन्दर वह उतना शुद्ध नहीं है और तीसरेके अन्दर वह और भी मलिन। इस प्रकार समस्त पदार्थोंमें व्यवहारकी दृष्टिसे समता नहीं की जा सकती। जिस

प्रकार निकृष्ट श्रेणीका सोना दाहादिके द्वारा शोधित होकर क्रमशः उत्कर्षको प्राप्त होता है, उसी प्रकार मलिन अन्तःकरण तथा मलिन देहवाले जीव शौचादिके द्वारा शुद्ध होकर ही शुद्ध शिवत्वके अधिकारी होते हैं। सामान्य शौचादिके द्वारा सहसा शुद्ध शिवत्वका लाभ सम्भव नहीं है, इसीलिये शास्त्रोंमें देह-शोधनकी आवश्यकता बतायी गयी है। देह शोधित होनेपर ही देही स्वर्गादि उच्च लोकोंको प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार जो बुद्धिमान् पुरुष देहशोधनकी इच्छा रखते हैं, वे चाहे जिस व्यक्तिसे अन्न-जल नहीं ग्रहण करते। इसके विपरीत जो लोग शौचाचारका विचार न करके चाहे जिसका अन्न-जल ग्रहण कर लेते हैं; वे पवित्र आचरणवाले होनेपर भी कुछ ही समयमें तमोगुणसे आच्छन्न होकर जडीभूत हो जाते हैं। इसलिये मैं आपका यह जल ग्रहण नहीं कर सकता। इसके लिये आप मुझे क्षमा करें।'

तपस्वीके इस शास्त्रानुमोदित एवं युक्तियुक्त भाषणको सुनकर वह अज्ञात मनुष्य चुप हो गया। उसने पैरके अँगूठेसे बात-की-बातमें एक बड़ा-सा गड्ढा खोद डाला और उसमें उस मटकेके जलको उड़ेल दिया। वह बड़ा गड्ढा उस थोड़े-से जलसे लबालब भर गया, फिर भी थोड़ा जल उस मटकेमें बच रहा। उस बचे हुए जलसे उसने निकटवर्ती एक सरोवरको भर दिया, इस अद्‌भुत व्यापारको देखकर कालभीति तनिक भी विस्मित नहीं हुए। उन्होंने सोचा भूतादिकी उपासना करनेवाले बहुधा इस प्रकारकी आश्चर्यजनक घटनाएँ कर दिखाया करते हैं। परंतु इस प्रकारके आश्चर्योंमें श्रुतिमार्गमें कोई विरोध नहीं आ सकता।

भक्त कालभीतिके दृढ़ निश्चयको देखकर वह अपरिचित व्यक्ति सहसा जोरसे हँसता हुआ अन्तर्धान हो गया। कालभीति

भी यह देखकर आश्चर्यमें डूब गये और उस व्यक्तिके सम्बन्धमें नाना प्रकारके ऊहापोह करने लगे। इस प्रकार जब वे विचारमें डूबे हुए थे कि उनकी दृष्टि सहसा उस बिल्ववृक्षके मूलकी ओर गयी। वहाँ उन्होंने देखा कि एक विशाल शिवलिंग अकस्मात् प्रादुर्भूत हो गया है, उसके तेजसे दसों दिशाएँ उद्भासित हो उठी हैं। आकाशमें गन्धर्वगण सुमधुर गान कर रहे हैं और अप्सराएँ नृत्य कर रही हैं। देवराज इन्द्र उसके ऊपर पारिजातके पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं तथा अन्यान्य देवता एवं मुनिगण भी जय-जयकार करते हुए नाना प्रकारसे भगवान् शंकरकी स्तुति कर रहे हैं। इस प्रकार वहाँ बड़ा भारी उत्सव लगा। कालभीतिने भी अत्यन्त आनन्दित होकर उस स्वयम्भू लिंगको प्रणाम किया और वे इस प्रकार स्तुति करने लगे—

'जो पापराशिके काल हैं, संसाररूपी कर्दमके काल हैं तथा कालके भी काल हैं, उन कलाधर, कालकण्ठ महाकालकी मैं शरण आया हूँ। हे प्रभो! आप सब विद्याओंके ईश्वर हैं, वेद भी आपकी स्तुति करनेमें समर्थ नहीं हैं। आप भूतोंके अधिपति, ईश्वरके भी ईश्वर एवं ब्रह्माके भी पिता हैं। आपको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। हे शिव! आपसे ही यह संसार उत्पन्न हुआ है और आप स्वयं अनादि हैं। जहाँ-जहाँ जिस योनिमें जन्म लेता हूँ, वहाँ-वहाँ आप मेरे ऊपर करुणाकी निरन्तर वर्षा करते हैं। हे प्रभो! आप सब प्रकारसे मंगल करनेवाले एवं पुष्टिवर्धक त्र्यम्बक हैं, मैं पवित्र गन्धादि द्रव्योंके द्वारा आपकी पूजा करता हूँ। हे त्रिलोचन! जिस प्रकार पका हुआ कुम्हड़ेका फल अपने डण्ठलसे च्युत होकर भूमिपर गिर पड़ता है, उसी प्रकार आप भी मुझे मृत्युरूपी बन्धनसे कृपापूर्वक छुड़ा दीजिये। हे ईश्वर! जो संसारसे विरक्त होकर आपके षडक्षर मन्त्रका जप करते हैं,

आप उन पर समस्त मुनिगणोंपर बहुत जल्दी प्रसन्न हो जाते हैं। हे प्रभो! मैं उसी '**ॐ नमः शिवाय**' इस षडक्षर मन्त्रका निरन्तर जप करता हूँ।'

भक्तश्रेष्ठ कालभीतिकी इस स्तुतिको सुनकर भगवान् शंकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे इसी लिंगमेंसे अपने स्वरूपमें प्रकट हो गये और दिव्य प्रकाशसे त्रिलोकीको प्रकाशित करते हुए उस ब्राह्मणसे बोले—'हे द्विजश्रेष्ठ! तुमने इस महीतीर्थमें कठोर तपस्याके द्वारा जो मेरी आराधना की है, इससे मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। अब मेरी कृपासे काल भी तुम्हारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं डाल सकेगा। मैंने ही मनुष्य-शरीर धारण करके तुम्हारे विश्वासकी परीक्षा ली थी और मुझे हर्ष है कि उस परीक्षामें तुम पूर्णतया सफल हुए। तुम्हारे-जैसे दृढ़विश्वासी पुरुष जिस धर्मका आचरण करते हैं, वह धर्म वास्तवमें श्रेष्ठ है। मैं तुम्हारे लिये जो जल ले आया था, वह समस्त तीर्थोंका जल है और अत्यन्त पवित्र है। मैंने उसके द्वारा ही उस गड्ढे एवं सरोवरको भरा है। और तुमने जिस रहस्यव्यंजक स्तोत्रके द्वारा मेरी स्तुति की है, उसका पाठ करनेसे लोगोंको महान् फलकी प्राप्ति होगी। अब तुम मुझसे अपना अभिलषित वर माँगो। तुम्हारी आराधनासे मैं इतना अधिक प्रसन्न हुआ हूँ कि तुम्हारे लिये मुझे कुछ भी अदेय न होगा।'

कालभीतिने कहा—'प्रभो! आपने मेरे प्रति जो प्रसन्नता प्रकट की है, उससे मैं वास्तवमें धन्य हो गया हूँ। वास्तवमें धर्म वही है जिससे आपकी प्रसन्नता सम्पादित होती है। जिस धर्मसे आपकी सन्तुष्टि नहीं होती, वह धर्म धर्म ही नहीं है। अब आप यदि मुझपर प्रसन्न हुए हैं, तो मेरी आपके चरणोंमें यही प्रार्थना है कि आप अबसे सदा इस लिंगमें विराजमान रहें, जिससे कि इस लिंगके प्रति जो कुछ भी पूजा-अर्चा की जाय वह अक्षय फल देनेवाली हो जाय। हे महेश्वर! चूँकि इस लिंगमेंसे प्रकट होकर आपने मुझे कालमार्गसे

सदाके लिये मुक्त कर दिया, इसलिये यह लिंग महाकालके नामसे जगत्में विख्यात हो और इस कूपमें जो मनुष्य स्नान करके अपने पितरोंको तर्पण करे उन्हें समस्त तीर्थोंके अवगाहनका पुण्य प्राप्त हो तथा उनके पितरोंको भी अक्षय गतिका लाभ हो।'

भगवान् शंकर कालभीतिकी इस निष्काम प्रार्थनाको सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—'हे विप्रवर! इस लिंगमें निवास करनेके सम्बन्धमें तो तुम्हें प्रार्थना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जहाँ-जहाँ स्वयम्भू लिंग प्रतिष्ठित हैं वहाँ-वहाँ मैं निश्चय ही निवास करता हूँ। हे पुत्र! माघ महीनेकी कृष्ण चतुर्दशीके दिन शिव नामक योगमें जो मनुष्य इस लिंगके पूर्वकी ओर स्थित कूपमें स्नान करके पितरोंका तर्पण करेगा, उसे समस्त तीर्थोंके स्नानका फल प्राप्त होगा और उसके पितरोंको भी अक्षय गति मिलेगी। उक्त तिथिको रात्रिके समय जो मनुष्य पहर-पहरपर इस महाकाल-लिंगकी अर्चना करके रात्रि-जागरण करेंगे, उन्हें जगत्के समस्त लिंगोंकी पूजाका और सर्वत्र रात्रि-जागरणका फल मिलेगा। हे द्विजोत्तम! जो व्यक्ति जितेन्द्रिय होकर इस लिंगकी पूजा करेंगे, भुक्ति और मुक्ति दोनों निश्चय ही उन्हें प्राप्त होगी। यदि कोई माघ मासके शुक्लपक्षमें सोमवारको अथवा चतुर्दशी या अष्टमीके दिन इस सरोवरमें स्नान करके महाकालकी पूजा करेंगे, उन्हें शिवलोक-की प्राप्ति होगी। फलतः महाकालकी सन्निधिमें दान, तप, मन्त्र-जप आदि जो-जो कुछ किया जायगा, वह सभी अक्षय हो जायगा। और हे वत्स! तुमने मेरी आराधनाके द्वारा कालमार्गपर विजय प्राप्त की है, इसलिये तुम भी महाकाल नामसे विख्यात होकर नन्दीकी भाँति मेरे अनुचररूपमें चिरकालतक मेरे लोकमें सुखपूर्वक निवास करोगे। कुछ ही दिनों बाद इस स्थानपर करन्धम नामके राजर्षि तुमसे मिलने आयेंगे, उन्हें धर्मका उपदेश देकर तुम मेरे लोकमें चले आना।'

भगवान् शिव यह कहकर उस लिंगके अन्दर लीन हो गये। इसके बाद महाकाल भी आनन्दपूर्वक उस स्थानमें रहकर तपस्या करने लगे।

कुछ दिनों बाद राजा करन्धम महाकालतीर्थका माहात्म्य और महाकालके चरित्रकी कथा सुनकर धर्मके सम्बन्धमें विशेष तत्त्व जाननेकी इच्छासे वहाँ आये। उन्होंने महीसागरके जलमें स्नान करके वहाँके अन्यान्य लिंगोंकी पूजा की और फिर महाकाल-लिंगके पास आकर प्रमुदित हो बैठ गये। जिसके दर्शनसे पंचाक्षरमन्त्रके दस हजार जपका फल प्राप्त होता है, उस महाकाल-लिंगका दर्शन करके करन्धम राजाके आनन्दकी सीमा न रही। उन्होंने उस समय अपने जीवनको सफल समझा। इसके बाद महामहोपचारसे उन्होंने महाकाल-लिंगकी पूजा की और फिर भक्तवर महाकालके पास पहुँचकर प्रणाम किया। राजाको आते देखकर महाकालको भगवान् शंकरका वचन स्मरण हो आया और उन्होंने हास्ययुक्त वदनसे राजाके सामने आकर उनका स्वागत किया और अर्घ्य-पाद्यादि उपचारके द्वारा उनका सत्कार किया। राजा करन्धमने शान्तमूर्ति भक्तवर महाकालसे कुशल-प्रश्नके अनन्तर अनेक धर्मविषयक प्रश्न किये और महाकालने उन सबका शास्त्रानुमोदित उत्तर देकर राजाका समाधान किया। उनके उपदेशका सार यही था कि घरमें ही रहकर इस लोकमें धर्म, अर्थ, काम तथा मृत्युके बाद मोक्ष प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय माहेश्वर-धर्मका पालन अर्थात् सब प्रकारसे भगवान् शंकरकी शरण होकर उनकी भक्ति करते हुए उन्हींकी प्रीतिके लिये वर्णाश्रमोचित कर्तव्यका पालन करना है।

इस प्रकार महाकाल विविध धर्मोंका उपदेश कर ही रहे थे कि सहसा आकाशमें बड़ा भारी शब्द होने लगा। महाकालने उस ओर ताका तो वे क्या देखते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, उनके अनुचर तथा भगवतीके सहित स्वयं भगवान् शंकर आ रहे हैं। उनके साथ इन्द्रादि

देवता, वसिष्ठादि मुनीश्वर तथा तुम्बुरु प्रभृति गन्धर्व हैं। महामति महाकालने भक्तिनिर्भर चित्तसे उठकर सबकी अभ्यर्थना की और अनेक प्रकारसे पूजा की। ब्रह्मादि देवताओंने महाकालको उत्तम रत्नसिंहासनपर बिठाकर उस महीसागरसंगमक्षेत्रमें उनका अभिषेक किया। देवी भगवतीने महाकालको वात्सल्यभावसे आलिंगन कर गोदमें बिठाया और पुत्रवत् प्यार करती हुई बोलीं— 'हे शिवव्रतपरायण वत्स! यह ब्रह्माण्ड जबतक रहेगा, तबतक तुम शिवभक्तिके प्रभावसे शिवलोकमें निवास करोगे। भगवान् महेश्वर तुम्हें यह वर दे ही चुके हैं कि जो व्यक्ति इन्द्रिय-संयमपूर्वक पवित्र होकर तुम्हारे द्वारा प्रतिष्ठित लिंगकी पूजा करेंगे, वे मरनेके बाद शिवलोकमें वास करेंगे, तथा इस लिंगका जो कोई दर्शन, स्तवन, पूजन अथवा वन्दन करेंगे अथवा इनकी सन्निधिमें दान आदि शुभ कर्म करेंगे, उनके उस कर्मसे भगवान् शंकरको परम सन्तोष होगा।' उस समय ब्रह्मा, विष्णु प्रभृति देवगण साधु-साधु कहकर महाकालकी प्रशंसा और स्तुति करने लगे। चारणलोग उनका गुणगान करने लगे और गन्धर्वगण मनोहर गानके द्वारा उन्हें प्रसन्न करने लगे। करोड़ों शिवजीके गण उनकी स्तुति करते हुए उन्हें घेरकर चारों ओर खड़े हो गये। इस प्रकार अपूर्व समारोहके साथ भक्तश्रेष्ठ महाकाल अपने आराध्यदेवके साथ सशरीर शिवलोकको चले गये।

इस समय भी जो लोग भक्तवर महाकालके द्वारा स्थापित शिवलिंगकी आराधनामें संलग्न रहते हैं, महाकाल बड़े प्रेमसे उनका आलिंगन कर शिवजीके आगे उनकी आराधनाका वृत्तान्त निवेदन करते हैं और उनपर भगवान् शंकरकी कृपाका आकर्षण करते हैं।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

वेंकटरमण

सान्द्रानन्दपयोदसौभगतनुं पीताम्बरं सुन्दरं
पाणौ बाणसरासनं कटिलसत्तूणीरभारं वरम्।
राजीवायतलोचनं धृतजटाजूटेन संशोभितं
सीतालक्ष्मणसंयुतं पथिगतं रामाभिरामं भजे॥

'जलसे भरे हुए मेघके समान जिनका शरीर श्यामवर्ण एवं आनन्दघन है, जो सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए हैं, जिनके हाथोंमें धनुष और बाण हैं, कमर उत्तम तरकसके भारसे सुशोभित है, कमलके समान विशाल सुमनोहर नेत्र हैं, जो मस्तकपर जटाजूट धारण किये हैं; उन अत्यन्त शोभायमान, श्रीसीताजी, लक्ष्मणजीसहित मार्गमें चलते हुए आनन्द देनेवाले श्रीरामचन्द्रजीको मैं भजता हूँ।'

भारतवर्षकी परम पावन भूमिमें जिस प्रकार अनादिकालसे गंगा और यमुना बह रही हैं, जिस प्रकार हिमालय और विन्ध्यकी पर्वतमालाएँ इसकी शोभा बढ़ा रही हैं, उसी प्रकार अनादिकालसे सन्त-महात्माओंकी अखण्ड अविच्छिन्न धारा इस देशमें अविरलरूपसे प्रवाहित होती आयी है। यहाँके वातावरणमें ही एक दिव्य विद्युत्-धाराका प्रवाह चला करता है, जिसके कारण यहाँके साधारण-से-साधारण प्राणीमें भी भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी त्रिवेणी तरंगित होती रहती है। किसी भी मामूली, उजड़े हुए गाँवमें चले जाइये, किसी भी व्यक्तिसे भगवान्‌का प्रसंग छेड़िये, भक्तिकी बात पूछिये, ज्ञानकी चर्चा चलाइये, वैराग्यका महत्त्व जाननेके लिये अपनी आकांक्षा प्रकट कीजिये, बात-ही-बातमें आप देखेंगे कि उसकी सरल निश्छल वाणीमें उसके हृदयकी भक्ति उमड़ी आ रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो इसने अपनी इन आँखोंसे भगवान्‌को देखा है और बराबर

देखता ही रहता है। ज्ञान और वैराग्यके संस्कार तो हमारी नस-नसमें माताके दूधके साथ बैठे हुए हैं। 'सबै भूमि गोपालकी' केवल हमारी वाणीपर ही हो, ऐसी बात नहीं; यह तो हमारी रग-रगमें व्याप्त है। इस जगत्को 'चिड़िया रैन बसेरा' हम सदासे समझते आये हैं। और ऐसा भी नहीं कि भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी यह दिव्य त्रिवेणी भारतके किसी प्रान्तविशेषमें ही प्रवाहित हुई हो। भारत-भूमिका एक-एक रजःकण, एक-एक परमाणु इसके रससे भिगा हुआ है। बदरी-नारायणसे लेकर रामेश्वरतक और कामाख्यासे लेकर काश्मीरतक समान भावसे इसकी धारा बही है। हाँ, यह और बात है कि उपासनाकी विधियाँ स्थान-स्थानपर अवश्य कुछ-कुछ भिन्न हो गयी हैं— कहीं वैष्णवधारा प्रबल है तो कहीं शैवधारा; कहीं भगवान् श्रीकृष्णकी उपासना है तो कहीं भगवान् श्रीरामकी, कहीं शिवकी उपासना है तो कहीं शक्तिकी।

दक्षिणभारतकी पश्चिमी सीमापर पहाड़ियोंकी एक पतली रेखा-सी खिंच गयी है। समुद्र इसके चरण-प्रान्तको पखारता रहता है। इतनी सुन्दर उपत्यका संसारमें शायद ही अन्यत्र कहीं हो। यहाँ हरियाली बारहों महीने बनी रहती है। यहीं तुंगभद्राके तटपर 'श्रीरंगपुरम्' नामका एक छोटा-सा गाँव था—सौ-सवा-सौ घरका। इसी श्रीरंगपुरम्के एक साधारण-से ब्राह्मण-परिवारमें वेंकटका जन्म ठीक श्रीरामनवमीके दिन दोपहरको हुआ। लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्वकी यह घटना है। गाँवमें भगवान् श्रीरामचन्द्रका जन्मोत्सव बड़ी धूमधामसे मनाया जा रहा था। घण्टा, घड़ियाल, शंख, झाँझ, मृदंग, डफ बज रहे थे और बधाइयाँ गायी जा रही थीं, जय-जयकारकी तुमुल ध्वनिसे सारा गाँव गूँज उठा था। आनन्दके फौवारे छूट रहे थे। भाँति-भाँतिके मेवे, मिठाइयाँ और पकवान बँट रहे थे।

दही और हल्दीके रंगकी कीच मची हुई थी। ऐसे आनन्दकी बेलामें वेंकटने पहली साँस ली।

परिवार छोटा-सा ही था—माता-पिता, दो बहिनें और एक भाई। वेंकटको इन सबका प्यार एक साथ मिला और परिवारके परम्परागत संस्कारोंकी छाप उसके कोमल हृदयपर पड़ती गयी। घरके आँगनमें तुलसी-चौतरा था और उसपर सिन्दूरसे पोती हुई श्रीमारुतिकी एक सुन्दर मूर्ति विराजमान थी। चौतरेके एक कोनेपर श्रीमारुतिकी विशाल ध्वजा थी, जो ऊँचे आकाशमें फहराती रहती थी। प्रत्येक मंगल और शनिवारको रात्रिमें श्रीमारुतिका उत्सव होता, कथा होती, कीर्तन होता और अन्तमें प्रसाद बँटता। गाँवभरके बड़े-बूढ़े, बालक-युवा, स्त्रियाँ-बच्चे जुटते और बड़े ही उत्साहसे श्रीमारुतिकी पूजा करते। वेंकटके पिता कथा बाँचते, कीर्तन कराते। माँ बच्चेको गोदमें लेकर बैठती और कीर्तनमें पीछे-पीछे बोलती। खूब ताल और स्वरके साथ कीर्तन होता। बालक वेंकट अभी तुतला ही रहा था कि उसे कीर्तनके कई बोल याद हो गये और उसके मुँहसे *'लघुपति लाघव लाजा लाम'* बहुत ही प्यारा, बड़ा ही मीठा लगता था। गाँवके लड़के-लड़कियोंका वेंकटके घर दिनमें भी मेला लगा रहता था। हाँ, वेंकट भैया कैसे हैं? बोलो तो जरा *'रघुपति राघव राजा राम!'* उनका इतना कहना था कि वेंकट प्यारभरी तुतली वाणीमें अपना कीर्तन छेड़ देता। उसके इस कीर्तनपर माता-पिता तो मुग्ध थे ही, गाँवके लोग भी कहते कि वेंकट किसी दिन बहुत बड़ा भक्त होगा। अभीसे, इतनी छोटी उम्रमें उसे भगवान्‌के नामका इतना चस्का लग गया है कि जरा-सा छेड़नेपर ही वह भगवान्‌का नाम लेने लगता है और तबतक लेता जाता है, जबतक उसे चुप न कराओ।

वेंकट चौथे वर्षमें पदार्पण कर चुका था। पिताने उसे भगवान्‌की स्तुतिके कई श्लोक कण्ठस्थ करा दिये थे। वेंकट जब कभी अकेले होता या श्रीमारुतिके सामने चबूतरेके पास आता; तो एकाएक वह उन श्लोकोंकी आवृत्ति करने लगता। इनमेंसे दो श्लोक बहुत ही प्रिय थे, जिन्हें वह स्वरके साथ गा सकता था—

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः॥

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

ये दोनों श्लोक उसके प्राणोंमें बस गये थे। प्रति मंगल और शनिवारको कथा आरम्भ होनेके पूर्व वेंकट इन श्लोकोंको बहुत प्रेमसे गाता और तब कथा शुरू होती। अब वह कीर्तनमें भी बड़े प्रेमसे भाग लेने लगा था और गाँवके सभी लड़कोंको जुटा लाता था। कभी-कभी वह स्वयं अगुआ बनकर कीर्तन करने लगता था—

राम राम जय राजा राम। राम राम जय सीताराम॥
भयहर दशरथनन्दन राम। जय जय मंगल सीताराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय घनश्याम। जानकिवल्लभ सीताराम॥
राम राम जय राजा राम। राम राम जय सीताराम॥

कथामें भी वेंकटको विशेष रस आने लगा था। वह बड़े ध्यानसे कथा सुनता। ऐसा मालूम होता कि पूर्वजन्मके संस्कारोंके कारण उसे कथाकी सारी बातें अपने-आप खुलती जाती थीं।

एक बार मंगलका दिन था; अध्यात्मरामायणके किष्किन्धा-काण्डकी कथा हो रही थी। भगवान् राम अपने प्रिय भाई लक्ष्मणको पूजाकी विधि बतला रहे हैं। प्रसंग बहुत सुन्दर था। आरम्भमें ही आज एक बात वेंकटको बहुत प्यारी लगी। कथारम्भके समय ही पिताने व्यासासनसे श्रीमारुतिके चरणोंमें वन्दना करते हुए यह श्लोक पढ़ा—

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥

इस श्लोककी व्याख्या करते हुए उन्होंने श्रोताओंको समझाया कि जहाँ-जहाँ प्रभु श्रीरघुनाथजीकी कथा और कीर्तन होता है, वहाँ-वहाँ श्रीहनुमान्जी महाराज अवश्यमेव रहते हैं और हाथ जोड़े, आँखोंमें आँसू भरे प्रेमपूर्वक कथा सुनते हैं। श्रीरघुनाथजीको जो प्रसन्न करना चाहे, वह श्रीहनुमान्जीको प्रसन्न करे, उनका आशीर्वाद-प्रसाद प्राप्त करे। इस प्रकार बड़ी सुगमतासे बहुत थोड़े समयमें श्रीमारुतिकी कृपासे श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें अविचल भक्ति प्राप्त होती है। श्रीहनुमान्जीकी उपासना व्यर्थ नहीं जाती। वे बहुत शीघ्र अपने भक्तपर ढलते हैं और उसे उचित मार्गपर लगाकर रात-दिन बराबर उसकी साधनाकी सँभाल रखते हैं, उसे गिरनेसे बचाते हैं और ऊपर उठाते जाते हैं और अन्तमें उसे भगवान्के चरणोंमें युक्त कर देते हैं। श्रीमारुतिने अनेकों भक्तोंको भगवान्के चरणोंमें लगाया है और अब भी जो उनकी उपासना करते हैं, वे अवश्यमेव प्रभुके चरणोंमें आश्रय पाते हैं। इसके बाद कथाका प्रसंग चला। भगवान् राम अपने भाई लक्ष्मणको वनमें समझा रहे हैं—'हे रघुकुलनन्दन लक्ष्मण! जगत्के प्रपंचोंसे मुँह

मोड़कर, मौन होकर मेरा ध्यान और स्मरण करता हुआ जप करे। फिर प्रीतिपूर्वक मेरा नाम लेकर नाचे, गावे, स्तुति-पाठ करे और हृदयमें मेरी मनोहर मूर्तिको धारणकर पृथ्वीपर लोटकर साष्टांग दण्डवत् करे। मेरे दिये हुए भावनामय प्रसादको 'यह भगवत्प्रसाद है' ऐसी भावनासे सिरपर रखे और भक्तिभावमें विभोर हो मेरे चरणोंको अपने मस्तकपर रखकर 'हे प्रभो! इस भीम भवार्णवसे मुझे बचाओ' ऐसा कहकर मुझे प्रणाम करे और मेरा चरणामृत ले अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, आभूषण आदिसे अथवा जो कुछ सामग्री मिल सके, उसीसे निष्कपट भावसे मेरी पूजा करे। यदि धनवान् हो तो नित्यप्रति कर्पूर, कुंकुम, अगुरु, चन्दन और अत्युत्तम सुगन्धित पुष्पोंसे मन्त्रोच्चारण करता हुआ मेरी पूजा करे तथा नीराजन (पाँच बत्तियोंकी आरती), धूप, दीप और नाना प्रकारके नैवेद्योंद्वारा मेरा अर्चन करे। इस प्रकार की हुई मेरी पूजा शीघ्र ही फल देनेवाली होती है। भक्तके द्वारा श्रद्धापूर्वक निवेदन किया हुआ एक अंजलि जल भी मेरी प्रसन्नताका कारण होता है। फिर गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि सामग्रीकी तो बात ही क्या है। मुख्य बात तो है भाव। मैं भावका भूखा हूँ। भावके सहित अर्पण किये तुलसीके दो-चार दल और एक चुल्लू जल ही मुझे खरीद लेनेके लिये पर्याप्त है।'

आजकी कथा वेंकटके हृदयमें बैठ गयी। उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि अब श्रीमारुतिकी उपासना करके प्रभु श्रीरामचन्द्रजीका दिव्य दर्शन करूँगा, अवश्य करूँगा! कितनी सुन्दर है यह लालसा, कितनी मंगलमयी है यह वासना, कितना दिव्य है यह लोभ, कितनी प्यारी है यह ललक, कैसा अलौकिक है यह मोह!

श्रीमारुतिरायके सम्बन्धमें अधिकाधिक जाननेकी लालसा

वेंकटरमणके हृदयमें बढ़ती गयी। रातको जब खा-पी लेते तो वह पिताके पास जाकर पूछता—'बाबूजी! हमारे श्रीहनुमान्‌जीकी कोई लीला सुनाओ, उनकी कोई कहानी कहो।' पिताको बालककी इस जिज्ञासासे बहुत सुख मिलता और वे उसे श्रीहनुमान्‌जीका चरित्र थोड़ा-थोड़ा नित्य सुनाते। 'हाँ, अच्छा, यह कैसे, वाह, ऐसा?'—आदि शब्दोंसे वेंकट पिताके मनको उल्लसित किये रहता। पिताने बड़े ही प्रेमके साथ बच्चेको यह बतलाया कि चैत्र महीनेके शुक्लपक्षकी पूर्णिमाको मंगलके दिन अंजना माताके गर्भसे साक्षात् भगवान् शंकरने ही दिव्य वानररूपसे अवतार ग्रहण किया। यही हनुमान्‌जी हैं। इनके पिताका नाम केसरी है। बचपनसे ही श्रीहनुमान्‌जी बहुत नटखट थे। एक दिन प्रातःकाल ही उन्हें भूख लगी और घरमें खानेकी कोई चीज दिखी नहीं। उनकी दृष्टि उदय होते हुये सूर्यपर पड़ी। उन्होंने सोचा यह तो बहुत सुन्दर लाल-लाल फल है। फिर क्या था, वे आकाशमें उड़ ही तो गये। किसी तरह सूरजकी जान बची। आरम्भसे ही ये बहुत चपल थे। ऋषियोंके आसन उठाकर पेड़पर टाँग देते, उनके कमण्डलुका जल गिरा देते, उनकी लँगोटी फाड़ डालते, कभी-कभी किसी ऋषिकी गोदमें बैठकर खेलते होते, एकाएक उसकी दाढ़ी नोचकर भाग खड़े होते।

इन कथाओंसे वेंकटको अद्‌भुत सुख मिलता। वह सोचता, कितना अच्छा होता यदि स्वयं मैं ही हनुमान्‌जी होता। मुझमें उड़नेकी शक्ति होती तो मैं बराबर आकाशमें उड़ा ही करता और वृक्षोंकी फुनगीपर बैठता। फिर मेरे बाबूजी और मेरी मैया मुझे बुलाते तो मैं आता, मनमें आता तो नहीं भी आता। ये मेरे पीछे खूब परेशान होते। मैं इन्हें खूब छकाता।

इस प्रकार नित्य कथा होती—कभी कोई प्रसंग, कभी कोई

प्रसंग। कभी सुग्रीवसे मिताई करानेकी कहानी तो कभी सीताकी खोजमें कनक भूधराकार शरीरसे समुद्र लाँघनेकी विस्मयकारी लीला। कभी विभीषणसे बातचीतका प्रसंग चलता तो कभी अशोकवाटिकामें माता जानकीको प्रभु श्रीरघुनाथजीकी मुद्रिका देनेका प्रसंग चलता। लंकादहनवाली कथा वेंकटको बहुत भाती थी। वह एक-एक बात पितासे पूछता—'हाँ बाबूजी! हनुमान्‌जीने लंकामें अपनी पूँछ कैसे बढ़ायी, क्या सब-का-सब कपड़ा उनकी पूँछमें अँट गया? क्या सैकड़ों मन तेल उसपर छिड़का गया? फिर इतनी भारी पूँछको लेकर वे इतने ऊँचे कैसे कूदे और एक कँगूरेसे दूसरे कँगूरेपर उछले कैसे?' पिता अपने प्यारे बच्चेके एक-एक कुतूहलको बड़े प्रेमसे शान्त करते—एक-एककर सारी बात सुनाते और सुनानेमें उन्हें बड़ा सुख मिलता। वे पूरी कथा कहकर अन्तमें कहते कि 'भगवान् श्रीरामके कामके लिये ही श्रीहनुमान्‌जीका जन्म हुआ और वे निरन्तर भगवान्‌के स्मरणमें ही डूबे रहते थे। आज भी भक्तोंको हनुमान्‌जीके दर्शन होते हैं। भगवान्‌की अनन्त कृपा और सम्पूर्ण शक्ति मेरे लिये है, यह विश्वास श्रीहनुमान्‌जीके हृदयमें बराबर बना रहता था।

वेंकटके पिता एक दिन अपने बच्चेको बड़े ही प्यारसे यह समझा रहे थे कि हनुमान्‌जीके जीवनमें यह विशेषता है कि जो इनके सम्पर्कमें आ जाता है, उसे ये किसी-न-किसी प्रकार भगवान्‌की सन्निधिमें पहुँचा ही देते हैं। विभीषणको इन्होंने भगवान्‌से मिलाया, सुग्रीवको भगवान्‌से मिलाया, तुलसीदासको इन्होंने भगवान्‌से मिलाया। इनका एकमात्र काम है भगवान्‌की सेवा और भगवान्‌की शरणमें जानेवालोंकी सहायता। विभीषण और सुग्रीवकी कहानी वेंकट पहले सुन चुका था। आज गोस्वामी तुलसीदासजीकी कथा सुननेकी उत्सुकता उसने प्रकट

की। पिताने बहुत ही विस्तारके साथ प्रेमपूर्वक यह बतलाया कि एक स्थानपर श्रीरामायणकी कथा नित्य हुआ करती थी। वहाँ एक वृद्ध ब्राह्मणके वेशमें श्रीहनुमान्‌जी नित्य आया करते थे। सबसे पहले आते थे और प्रसाद बँट चुकनेपर सबके जानेके बाद जाते थे। तुलसीदासजीने उन्हें पहचान लिया और उनके चरण पकड़ लिये। फिर क्या था, वे अपने असली रूपमें प्रकट हो गये। फिर उन्हींकी कृपासे चित्रकूटमें तुलसीदासजीको श्रीराम-लक्ष्मणके दर्शन हुए। मन-ही-मन वेंकटको ऐसा प्रतीत हुआ कि वही तुलसीदास हैं और उसे ही श्रीहनुमान्‌जीकी कृपासे भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हुए थे। आज उसे एक ऐसी बात मिली, जिसके कारण उसके हृदयको बहुत ही सुख मिला। वह आज मस्त होकर नाच रहा था। मनमें वह यह समझ रहा था कि अब क्या, अब तो मुझे भगवान्‌के दर्शन होंगे ही; क्योंकि श्रीहनुमान्‌जीकी यही लीला है।

धीरे-धीरे वेंकट सयाना हुआ। नवें वर्षमें उसका विधिवत् यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। श्रीगुरुमुखसे उसे गायत्री-मन्त्रके साथ-साथ 'ॐ हरिः' की दीक्षा मिली। माता-पिताकी आज्ञा और आशीर्वादसे वह गुरुकुलमें शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भेजा गया।

मदुराका दक्षिणभारतमें वही स्थान है, जो काशीका उत्तर-भारतमें। काशी प्राचीन कालसे उत्तरभारतका प्रधान विद्यापीठ रही है। समस्त उत्तरभारतके विद्यार्थी यज्ञोपवीत-संस्कारके बाद काशीमें ही विद्याभ्यासके लिये आया करते थे।

आज भी यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेपर बालक अपने माता-पितासे भिक्षा माँगता है—यह कहकर कि 'माँ! मुझे भिक्षा दो, मैं काशी विद्या पढ़ने जाता हूँ।' यह आज भले ही केवल अभिनयके रूपमें हमारे समाजमें रह गया हो; परन्तु है यह हमारे

एक बहुत ही पवित्र संस्कारकी परम पावन स्मृति। मदुराके पास ही एक छोटी-सी नदी है—नाम है वाइकै। इसी नदीके तटपर मदुरासे दस-बारह कोसपर एक छोटा-सा आश्रम था, जहाँ वेंकट शिक्षा प्राप्त करनेके लिये आया। गुरुजीके चरणोंमें उसने साष्टांग दण्डवत् किया और उनकी आज्ञा प्राप्त कर वह वहाँ रहने लगा। धीरे-धीरे उसने वेद-वेदांग, दर्शन, स्मृति, पुराण, इतिहास, ज्योतिष आदि सम्पूर्ण शास्त्रोंका विधिपूर्वक अध्ययन किया। उसकी मेधा बहुत ही प्रखर थी, बुद्धि बहुत ही विलक्षण। एक बार सुनकर किसी भी बातको स्मरण कर लेना उसके लिये बहुत ही आसान था। गुरुजीके मुखसे कोई भी बात सुनता, उसे सदाके लिये याद कर लेता। गुरुजी उसके गुणोंपर मुग्ध थे, उसकी विद्या और बुद्धिकी विलक्षणतापर विस्मित थे। प्रायः पढ़ाते समय विद्यार्थियोंसे कहा करते, ब्रह्मचारी हो तो वेंकटरमण-जैसा। इस प्रकार गुरुके आश्रममें पूरे सोलह वर्ष व्यतीतकर वेंकट गुरुकी आज्ञासे समावर्तन संस्कारके अनन्तर घर लौटा। आश्रमकी छाप उसपर पड़ चुकी थी। अखण्ड ब्रह्मचर्यके तेजसे उसका मुखमण्डल जगमगा रहा था। विद्या जब अन्तस्‌में प्रवेश कर जाती है तो वस्तुतः वह अन्तस्तलको ब्रह्मतेजसे आलोकित कर देती है। जीवके समस्त बन्धन खुल जाते हैं। उसे एक ऐसी 'गुरुकिल्ली' मिल जाती है, जिसके सहारे वह समस्त रहस्योंका उद्‌घाटन कर लेता है। उसके समक्ष समस्त लोक-लोकान्तर अपना हृदय खोल देते हैं। और तत्त्वोंकी तहमें जो सार-सत्ता है, उसीका आधार लेकर वह अविचल खड़ा रहता है। उसके लिये बाहरी किताबें बन्द हो जाती हैं, अन्दरके पन्ने खुलने लगते हैं। सारा रहस्य तो भीतर है, बाहर तो अन्दरका एक धुँधला प्रतिबिम्बमात्र है। जो कुछ है, वह भीतर है, हृदयके भीतर है और

हृदयका द्वार खुले बिना परम सत्यका साक्षात्कार नहीं होता। यही बाहरकी दृष्टि जब भीतरकी ओर मुड़ती है तब अपना निधि खोज लाती है, जिसे खोकर वह जन्म-जन्मसे भटकती आयी है।

वेंकटरमणने अपने जीवनका मार्ग निश्चित कर लिया। समस्त वेद-वेदांग, उपनिषद्, पुराण आदिकी गहराईमें डूबनेपर उसे '**ॐ हरिः**' के ही दर्शन हुए। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य और '**ॐ हरिः**' का अखण्ड एकतार स्मरण—उसकी इस अनन्य निष्ठाको देखकर घरवालोंने उसके सम्मुख विवाहका प्रस्ताव ही नहीं रखा। पिताको बड़ी प्रसन्नता थी कि उनका पुत्र सन्मार्गपर बढ़ता चला जा रहा है। उन्होंने किसी प्रकारकी छेड़छाड़ नहीं की। वेंकटरमण नित्य-प्रति प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उठता, स्नान-सन्ध्या-तर्पणसे निश्चिन्त होकर वेदोंकी कुछ ऋचाओंका तथा उपनिषदोंके कुछ मन्त्रोंका स्वरसे पाठ करता और फिर श्रीमारुतिकी मूर्तिके सामने आसन लगाकर एकनिष्ठ होकर बैठ जाता और पूरे छः घण्टे '**ॐ हरिः**' का जप करता। दोपहरको घरमें जो कुछ तैयार होता, उसे प्रभुका प्रसाद समझकर प्राप्त करता और फिर कुछ स्वाध्याय करता। तीसरे पहर वह पुनः जपमें बैठ जाता और चार घण्टेतक श्वासके द्वारा '**ॐ हरिः**' का जप करता। जपकी ओर उसकी रुझान बढ़ती ही गयी। निश्चित समयोंमें तो वह विधिवत् जप करता ही था, शेष समय भी वह मन-ही-मन उसीकी बार-बार आवृत्ति करता रहता था। फल यह हुआ कि रातको सोते समय भी उसके द्वारा जप होता रहता था। इस जपमें उसे किसी भी प्रकारका कोई कष्ट, श्रम या असुविधाका बोध नहीं होता था, वरं उसे इसमें अधिकाधिक रस मिलता था, एक दिव्य सुखानुभूति होती थी।

जपकी ओर मन ज्यों-ज्यों झुकता गया, एकान्तकी चाह भी

उसी मात्रामें बढ़ती गयी। कभी-कभी चाँदनी रातमें तुंगभद्राके तटपर एकान्तमें बैठकर जब वह 'ॐ हरिः' की धुन लगाता तो ऐसा मालूम होता कि उसके रोम-रोमसे 'ॐ हरिः', 'ॐ हरिः' की कोमल किरणें निकल रही हैं और भीतर-बाहर यह मन्त्र दिव्य ललित अक्षरोंमें लहरा रहा है। कभी-कभी वह इस मन्त्रमें इस प्रकार डूबकर तैरने लगता, जैसे मछली महासागरके तलमें जाकर अपनी अलमस्तीमें दाहिने-बायें, ऊपर-नीचे तैरती है। मन्त्रमें वह और उसमें मन्त्र—एक अजीब-सा तमाशा! लोग इसको तमाशा ही कहेंगे; परन्तु वेंकटरमणके लिये तो यह एक स्पष्ट सत्य था। कभी-कभी वह नदीकी धारापर पड़ती हुई चन्द्रमाकी स्निग्ध किरणोंकी क्रीड़ा देखा करता—मन्त्रमुग्ध-सा, विस्मित-सा। वहाँपर भी उसे 'ॐ हरिः' की ही ललित लीला दीख पड़ती। कभी-कभी वह आँख उठाकर अनन्त आकाशमें असंख्य नक्षत्रोंकी ओर देखता और उसे इन सारे नक्षत्रोंके हृदय-लोकमें 'ॐ हरिः' के ही दर्शन होते। अपने हृत्पिण्डकी गतिमें उसे स्पष्ट 'ॐ हरिः' सुनायी पड़ता, अपनी साँसोंमें भी वह उसी मन्त्रको सुनता। अपने प्राणोंके प्राणमें भी उसे उसी मन्त्रका आलोक दीखता; आँखें जहाँ जातीं, मन जहाँ जाता, दृश्य जिधर मुड़ता, बुद्धि जो विचारती—सर्वत्र ही केवल 'ॐ हरिः' का स्फुरण उसे मोहे रहता। पूरे ग्यारह वर्ष इस प्रकार इस मधुर साधनमें बीत गये, परन्तु वेंकटको मालूम होता, अभी कल ही इस मार्गमें प्रवृत्त हुआ हूँ। वस्तुतः है भी यही बात। जो लोग शर्त बाँधकर साधनाके मार्गमें प्रवृत्त होते हैं, वे साधनाका रस क्या जानें? इतना नाम जप लेनेसे, इतने दिन मौन रखनेसे, इतना स्वाध्याय करनेसे, इतनी एकादशी करनेसे, अमुक धर्मग्रन्थका इतना पाठ कर लेनेसे भगवान् मिल जायँगे—फिर साधनासे

पिण्ड छूट जायगा—ऐसा सोचकर जो साधनपथमें पैर रखते हैं, उन्हें निराशाके सिवा क्या मिलेगा? भगवान् शर्तोंमें नहीं बँधते, वे बँधते हैं केवल प्रेमसे, एकमात्र अनन्य-प्रेमसे! बिना प्रेम और लगनके की हुई असंख्य वर्षोंकी साधनासे एक पलकी प्रेमपरिप्लुत साधना प्रभुको विशेष प्यारी है। भगवान्में अनुरक्ति होनी चाहिये। मुख्य वस्तु है अनुरक्ति और आसक्ति। हाँ, यह बात और है कि आरम्भमें मन न लगता हो, प्रीति न उपजती हो तो बलात् भी मनको भजनमें लगाना चाहिये। पीछे, धीरे-धीरे आप ही प्रभुकी कृपासे प्रीति और संसक्तिका उदय होगा और इसके उदय होनेपर फिर बाकी ही क्या रह जाता है?

आज श्रीहनुमान्जीकी जयन्ती थी। दिनभरके वेंकटके घर बड़ी धूम-धाम रही। आधी राततक जागरण हुआ—खूब भजन हुआ, पद गाये गये, कथा हुई, धुआँधार श्रीमारुतिरायके नामका जयघोष हुआ, प्रसाद बँटा। सबलोग घर गये। परन्तु वेंकटरमणके मनमें एक अजीब तरहका आन्दोलन छिड़ा हुआ था। उत्सव समाप्त होते ही पंचामृत लेकर वह धीरेसे घरसे सरका और नदीकी ओर बढ़ा। चैत्र शुक्ल पूर्णिमाकी आधी रात, तुंगभद्राका सैकत तट, वासन्ती बयारके झोंके, वन्य पुष्पोंकी परागसे मदमाती वायुकी अठखेलियाँ। वेंकट अपने इष्टदेव श्रीमारुतिके ध्यानमें बैठ गया। बैठते ही समाधि लग गयी और अन्तस्तलमें उसने श्रीमारुतिरायकी किलकिलाहट स्पष्ट सुनी। फिर देखा कि असंख्य वानरोंकी सेना लेकर वे आगे आ रहे हैं—धीरे-धीरे सभी वानर जाने कहाँ और कब अन्तर्धान हो गये और रह गये केवल श्रीमारुतिराय। वे स्नेहसे भरी दृष्टिसे वेंकटकी ओर देख रहे थे और वेंकटके सिरपर अपना दाहिना हाथ रखकर उसे आशीर्वाद दे रहे थे। वेंकटसे अब रहा नहीं गया। वह प्रभुके

चरणोंमें गिर गया और आनन्दके भारसे मूर्च्छित हो गया। उस दिव्य मूर्छामें वेंकटको यह बोध हुआ कि श्रीहनुमान्‌जी उसके हृदयपटपर अपनी तर्जनी अँगुलीसे स्वर्णाक्षरोंमें '**ॐ हरिः**' लिख रहे हैं। आज वेंकटरमणको श्रीमारुतिका दिव्य प्रसाद मिला।

अब प्रायः रात्रिको जब सब सो जाते, वेंकट तुंगभद्राके तटपर एकान्तमें श्रीमारुतिसे मिलने लगा। उसे ऐसा लगता मानो श्रीमारुति पहलेसे ही उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके चरणोंमें मस्तक टेकता और आँसुओंसे उनके वक्षःस्थलको भिगो देता। फिर श्रीहनुमान्‌जी उसे अपनी वात्सल्य-धारामें डुबाकर अपने स्वामीके परम धाम श्रीसाकेतलोकमें ले जाते। वहाँ प्रभु श्रीरघुनाथजीके नित्य लीलाधाममें नित्य लीला-विहारका दर्शन होता। वहाँका दृश्य बहुत ही दिव्य और परम मंगलमय था—

कल्पवृक्षके नीचे सोनेका महामण्डप है। उसके नीचे अत्यन्त सुन्दर मणिरत्नमय सिंहासन है। उसपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी श्रीसीताजीसहित विराजित हैं। नवीन दूर्वादलके समान उनका श्यामवर्ण है। कमलदलके समान विशाल नेत्र हैं, बड़ा ही सुन्दर मुखमण्डल है। विशाल भालपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित है। घुँघराले काले केश हैं। मस्तकपर करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशयुक्त मुकुट है। मुनिमनमोहन महान् लावण्य है। दिव्य अंगपर पीताम्बर विराजित है। गलेमें रत्नोंके हार और दिव्य पुष्पोंकी माला है। देहपर चन्दन लगा है। हाथोंमें धनुष-बाण लिये हैं। लाल-लाल होठ हैं। उनपर मीठी मुसकानकी छबि छा रही है, बायीं ओर माता श्रीसीताजी विराजित हैं। इनका उज्ज्वल स्वर्णवर्ण है। नीली साड़ी पहने हुए हैं और हाथोंमें रक्तकमल धारण किये हैं। दिव्य आभूषणोंसे सब अंग विभूषित हैं। बड़ी ही अपूर्व और मनोरम झाँकी है।

प्रभुकी यह दिव्य झाँकी पाकर वेंकटका जीवन धन्य हो गया!

यह लीला-विहार कितने दिन चलता रहा, वेंकटको कुछ पता नहीं। एक दिन अंजनीकुमार श्रीहनुमान्‌जीने प्रसन्न होकर उससे पूछा—'कहो वत्स! तुम क्या चाहते हो? वेंकटसे कुछ बोला नहीं गया; परंतु फिर भी मन-ही-मन उसके भीतर यह लालसा जगी कि श्रीहनुमान्‌जीका जो परम प्रिय पदार्थ है, वही देखना चाहिये। श्रीहनुमान्‌जी उसके मनकी समझ गये। उन्होंने कहा, 'अच्छा, मेरा परम प्रिय पदार्थ जो मेरे प्राणोंसे भी प्रिय है, तुम देखो और सुनो।' ऐसा कहकर वे दोनों हाथोंमें करताल लेकर मस्त होकर कीर्तन करने लगे।

जय सीताराम सीताराम सीताराम जय सीताराम।
जय सीताराम सीताराम सीताराम जय सीताराम॥

भक्तराज हनुमान्‌का यह दिव्य कीर्तन त्रिभुवनको पावन करनेवाला है। वे सदा इसीका कीर्तन किया करते हैं। परंतु आजका यह कीर्तन केवल वेंकटरमण ही सुन रहे हैं और उनकी क्या अवस्था है, यह कोई बड़भागी भक्त ही बता सकता है। कीर्तनकी धुन गाढ़ी होती गयी और धीरे-धीरे शीतल, मधुर प्रकाशकी कोमल किरणें समीप आती दिखीं। साक्षात् प्रभु श्रीरघुनाथजी माता जानकीसहित वहाँ पधारे और अपने मन्द-मन्द मृदुल हास्यसे अपने भक्त श्रीहनुमान्‌को और अपने भक्तके भक्त वेंकटरमणको कृतकृत्य कर दिया। वेंकटके प्राण प्रभुके प्राणोंमें लीन हो गये!

भक्त-ललिताचरण

अंसालम्बितवामकुण्डलधरं मन्दोन्नतभ्रूलतं
किञ्चित्कुञ्चितकोमलाधरपुटं साचिप्रसारेक्षणम्।
आलोलांगुलिपल्लवैर्मुरलिकामापूरयन्तं मुदा
मूले कल्पतरोस्त्रिभंगललितं ध्यायेज्जगन्मोहनम्॥

—श्रीलीलाशुक

वह त्रिभंगललित जगन्मोहन श्यामसुन्दर! कितनी प्यारी है उसकी छबि! कन्धेतक लटकते हुए सुन्दर कुण्डल धारण किये हुए हैं। भौंहें कुछ ऊपरकी ओर तनी हुई हैं, किंचित् सिकुड़े हुए अत्यन्त कोमल अधरपुट हैं। तिरछी और विशाल आँखें हैं। कल्प-वृक्षके नीचे खड़ा हुआ वह रासरसेश्वर रसिकशिरोमणि अपनी सुकोमल अँगुलियोंको धीरे-धीरे नचाता हुआ प्रसन्नमुखसे बंशी बजा रहा है। अपने इस हृदयधनको छोड़कर अन्यत्र मन कहाँ जाय, क्यों जाय?

वह मनमोहन कितना स्नेहमय है। अपनी मनोहारिणी मुरलिकाकी मन्द-मन्द रसीली तानसे गोकुलको विवश तथा व्याकुल कर रहा है। वह साँवरा सलोना, जिसके रोम-रोमसे सौन्दर्यकी किरणधाराएँ निकल-निकलकर भक्तजनोंके चित्तको प्रेमसे, आनन्दसे, परिप्लावित कर रही हैं—युवतियों और मुनियोंका चित्त चुरानेवाला वह नटनागर —मनोहर रूपवाला वह मुरलीमनोहर—गोपियोंका वह परम प्रियतम हमारे चित्तमें नित्य निवास करे!

अनादिकालसे वह बाँसुरी बजती आ रही है। जगत्‌के भीषण कोलाहलमें हम उसे सुन नहीं पाते। अपने हृदयके वृन्दावनमें हम प्रवेश नहीं करते, फिर सुनें तो कैसे? वह परम प्रेमी अपने दिव्य शब्द, दिव्य स्पर्श, दिव्य गन्ध, दिव्य रूप और दिव्य रससे

जीवमात्रको अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है, जाने कबसे आकृष्ट करता आ रहा है। मोहन-मुरलीमें मूर्तिमान् शब्द, कमलके समान कोमल मसृण अंगोंमें तथा वनमालाकी शीतलता एवं स्निग्धतामें मूर्तिमान् स्पर्श, दिव्य अंगगन्धमें तथा मृगमद, चन्दन और अगुरुके तिलकमें मूर्तिमान् गन्ध, पीताम्बरमें तथा मयूरपिच्छ और मकर-कुण्डल वलय-नूपुरादि अलंकारोंमें मूर्तिमान् रूप और त्रिभंग रसराजकी बाँकी चितवनमें मूर्तिमान् रस छलक रहा है। इस भाव-पथमें कभी भगवान्‌का रूप, कभी रस, कभी स्पर्श, कभी गन्ध और कभी शब्द भक्तोंके हृदयको अपनी ओर आकृष्ट कर उसे सर्वथा विवश कर देता है। कभी उसके नूपुरोंका रुनझुन सुन पड़ी तो कभी कुण्डलकी झलमल ज्योति हृदयमें प्रकाशकी किरणें बिखेर गयी, कभी घनी काली घुँघराली अलकोंमें प्राण उलझ गये तो कभी बाँकी भौहोंमें हृदय अटक गया। जिसे एक बार वह देख लेता है, वह सदाके लिये निहाल हो जाता है। आज एक ऐसे ही प्रेमी भक्तकी जीवन-गाथासे अपने हृदयको प्रेमके अमृतमें नहला रहा हूँ। प्रेमी पाठक हृदय खोलकर इस रसको पियें, इस प्रेम-हृदयमें डूबें।

चित्रकूटकी परम पावन भूमिमें आज भी एक दिव्य आध्यात्मिक वातावरणका अनुभव भक्तोंको होता है। वह एक सिद्धभूमि है और साधनाके लिये अत्यन्त उत्कृष्ट मानी जाती है। अनेक सन्तों और भक्तोंको वहाँ अब भी भगवान्‌की दिव्य लीलाओंके साक्षात् दर्शन होते हैं। अनसूयाजीकी ज्वाला आज भी वहाँ प्रज्वलित है और मन्दाकिनीका स्नान श्रद्धालुओंको शीघ्र फल देनेवाला है। इसी चित्रकूटके समीप एक छोटे-से गाँवमें आजसे कई सौ वर्ष पूर्व एक वैश्य-परिवारमें ललिताचरणका जन्म हुआ—ठीक भादों बदी अष्टमीके दिन। भादोंकी अष्टमी

हिन्दूमात्रके लिये अत्यन्त पुनीत है। उसके साथ साधकोंके हृदयका अत्यन्त मधुर सम्बन्ध है; क्योंकि इस तिथिको वे अन्तरका पट हटाकर अपने अन्दर प्राणवल्लभ हरिका साक्षात् दर्शन करते हैं और लाड़ लड़ाते हैं। ऐसे ही पुण्य-पर्वपर ललिताचरणने माताकी कोखको धन्य किया! भक्तके चरणोंका स्पर्श पाकर यह मेदिनी हर्षसे पुलकित हो उठती है, माता-पिता कृतार्थ हो जाते हैं, वह देश और कुल धन्य हो जाता है!

ललिताचरण अपने माता-पिताका एकमात्र लाड़ला लाल था। इस कारण उनका अमित स्नेह और अपार दुलार उसपर अहर्निश बरसता रहता। वह उनकी आँखोंका तारा था। उसका एक क्षणका भी बिछोह उनके लिये असह्य था। पिता दूकानपर रहते और माता घरका काम-काज करती। प्रातःकाल स्नानादिसे निवृत्त होकर पिता श्रीहनुमानचालीसाका पाठ करते और माता तुलसीके थालेमें जल देती। सूर्यनारायणको अर्घ्य देती और फिर श्रीहनुमान्‌जीको पत्र-पुष्प तथा प्रसाद चढ़ाती। यही उनका नित्य-नियम था। ललिता भी माताके साथ ही लगा रहता और उसके सभी कृत्योंको एक कुतूहलभरी दृष्टिसे देखता। बचपनमें जो संस्कार पड़ जाते हैं, वे कच्चे घड़ेपर खिंची हुई रेखाके समान कभी मिटते नहीं। ललिताको पाँच-सात वर्षकी उम्रमें ही श्रीहनुमानचालीसा कण्ठस्थ हो गया और वह बड़े प्रेमसे अपनी माताके साथ बैठकर श्रीहनुमान्‌जीको एक पाठ सुनाता। बच्चेकी प्यारभरी मीठी वाणीमें श्रीहनुमानचालीसाका पाठ माता-पिताको बहुत ही प्रिय लगता! वे श्रद्धा-भक्तिके साथ श्रीहनुमान्‌जीके चरणोंमें मस्तक रखकर यही प्रार्थना करते कि मेरे बच्चेकी मति भगवान्‌के चरणोंमें हो। भगवान्‌के चरणोंमें सच्चे भावसे निवेदित की हुई कोई भी प्रार्थना विफल नहीं जाती। लौकिक अथवा

पारलौकिक, कोई भी वासना भगवान्‌के चरणोंमें निवेदित होकर दिव्य एवं मंगलमयी हो जाती है। और यदि भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति और प्रीतिकी प्रार्थना की जाय तब तो पूछना ही क्या? भक्ति और प्रीतिका वरदान देते हुए भगवान्‌का हृदय हर्षसे भर जाता है।

और हनुमान्‌जी तो कृपाके समुद्र हैं। भक्तोंका कल्याण करना तथा उन्हें यथाधिकार प्रभु-चरणोंमें पहुँचा देना ही उनका एकमात्र कार्य है। वे रात-दिन इसी टोहमें रहते हैं कि कौन भक्त भगवान्‌के लिये व्याकुल है। व्याकुलता एवं सच्ची लगन देखकर वे करुणा-परवश होकर साधकके हृदयको भगवान्‌के चरणोंमें जोड़ देते हैं। मध्यस्थका कार्य जैसा श्रीहनुमान्‌जी करते हैं, वैसा कोई नहीं कर सकता। कारण कि वे रात-दिन भक्तोंकी टोहमें ही रहते हैं और उनकी प्रीतिको भगवच्चरणोंमें दृढ़ करते हैं, अपनी कृपाकी छाया उनपर बराबर बनाये रखते हैं, अनिष्टसे रक्षा करते हैं, इष्टकी ओर प्रवृत्त करते हैं और हृदयके समग्र भाव-प्रवाहको भगवान्‌की ओर मोड़ देते हैं। भक्तके योगक्षेमका सारा भार अपने ऊपर ले लेते हैं, उसे सहारा दिये रहते हैं, प्रोत्साहित करते रहते हैं। श्रीहनुमान्‌जीके चरणोंका आश्रय ले लेनेपर फिर कुछ भी करना-धरना नहीं पड़ता। सारा-का-सारा कार्य वे चुटकी बजाकर कर देते हैं। भक्तोंका यही अनुभव है।

ललिताचरणकी प्रीति श्रीहनुमान्‌जी तथा श्रीहनुमानचालीसामें बढ़ती गयी। प्रातःकाल स्नान करके स्वच्छ धुले हुए वस्त्र पहनकर वह पूजा-घरमें चला जाता और प्रेमगद्‌गद वाणीसे पाठ करता। कभी-कभी पाठ करते हुए उसे ऐसा बोध होता कि साक्षात् श्रीहनुमान्‌जी उसके मस्तकपर हाथ रखे हुए हैं और उसे अपनी अमृतमयी स्नेहदृष्टिसे नहला रहे हैं। ऐसे समय स्वभावतः

ही ललिताचरणकी आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी अविरल धारा बहने लगती—पाठ बंद हो जाता और एक विचित्र दिव्योन्मादमें घण्टों निकल जाते। माता-पिताको अपने बच्चेकी इस भगवत्प्रीतिसे अपार आनन्द मिलता।

एक बारकी बात है कि ललिताचरणके गाँवके पास ही एक गाँवमें रासलीला हो रही थी। संयोगसे ललिताचरण भी पहुँच गया था। उस दिन गोपियोंकी विरह-लीलाका प्रसंग था। भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनसे मथुरा जा रहे हैं। एक सखी इस हृदयको हिला देनेवाले समाचारको लेकर श्रीमती राधिकाजीके पास जाती है। उसे सुनते ही राधिकाजी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर प्रलाप करने लगती हैं—मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? कुछ अच्छा नहीं लगता। अरे, ये निष्ठुर प्राण भी तो नहीं निकलते! प्रियतमके लिये मैं किस देशमें जाऊँ? रजनी बीतनेपर प्रातःकाल किसके मुखको देखकर जी ठण्डा करूँगी? प्यारे तो दूर देशमें जा रहे हैं, मैं उनके विरहको कैसे सहूँगी? समुद्रमें कूदकर प्राण गँवा दूँगी, जिससे लोगोंकी दृष्टिसे ओझल रह सकूँ। नहीं तो, अपने प्राणप्यारेको गलेकी माला बनाकर देश-विदेशमें योगिनी बनकर घूमती फिरूँगी। जो रात-दिन अपने साथ रहा, जिसके सम्मिलनमें मैंने रातको रात और दिनको दिन नहीं समझा, जिसके साथ रहकर भाँति-भाँतिके सुख भोगे, विविध प्रकारके आनन्दका उपभोग किया, वही एकदम जानेके लिये तैयार खड़ा है। 'हा हन्त!' इस तरह नाना प्रकारके आर्तवचनोंको कहती हुई और लोक-लाज आदिकी परवा न करती हुई व्रजकी स्त्रियाँ ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर 'हा गोविन्द! हा दामोदर!! हा माधव!!!' कहकर रुदन करने लगीं!

उधर गोपियाँ रो रही थीं, इधर ललिताचरण रो रहा था।

आज एकाएक उसने अपनेको गोपीभावमें तल्लीन पाया। घण्टों उसकी विचित्र दशा रही। आँसुओंसे उसका वक्ष:स्थल भीग गया। आहों और सिसकियोंका ताँता लग गया। हृदयमें सोया हुआ विरह जाग पड़ा। उसकी दशा ठीक उस प्रेम-दीवानी मीराकी-सी हो गयी—

हे री मैं तो प्रेम-दिवाणी, मेरो दरद न जाने कोय॥ टेक॥
सूली ऊपर सेज हमारी किस बिधि सोना होय।
गगन-मँडल पै सेज पियाकी किस बिधि मिलना होय॥
घायलकी गति घायल जाने, की जिन लाई होय।
जौहरीकी गति जौहरी जाने, की जिन जोहर होय॥
दरदकी मारी बन-बन डोलूं, बैद मिला नहि कोय।
मीराकी तब पीर मिटै जब बैद साँवलिया होय॥

सचमुच उस पुरुषके हृदयको व्रजके समान, फौलादके सदृश समझना चाहिये, जिसके नेत्रोंमें श्रीहरिके नामस्मरणसे जल न भर आता हो; शरीरमें रोमांच न हो जाते हों और प्राण उस परम प्रियतमसे मिलनेके लिये तड़फड़ा न उठते हों। ललिताचरणका हृदय आज अपने प्राणधनके लिये व्याकुल होकर तड़प रहा है। क्षणमें श्रीकृष्ण उसके हृदयमें प्रकट होते हैं और दूसरे ही क्षण छिप जाते हैं। वह आज उस 'छलिया' को पकड़ना चाहता है। परन्तु 'वह' किसकी पकड़में आया? वह तो विरहकी भट्ठी धधकानेके लिये ही क्षणभरके लिये हृदयमें प्रकट होता है—ठीक जैसे निर्मल आकाशमें पूर्णिमाका चाँद उग रहा हो—और क्षणभरमें वह छिपकर प्राणोंमें अनन्तकालके लिये हाहाकारकी आँधी उठा देता है। बलात् प्रकट होता है—लुभानेके लिये, तरसानेके लिये, तड़पानेके लिये। उसे पकड़ने दौड़ो तो जाने कहाँ छिप जाता है। वह लुका-

छिपी जीवके साथ वह अनादिकालसे खेलता आया है, अनन्तकालतक खेलता रहेगा।

रासलीला चल रही थी। गोपियोंकी दशा देखकर उद्धवजी मथुरा लौटकर आ गये हैं और बड़े ही करुणस्वरसे राधिकाजीकी दशाका वर्णन कर रहे हैं—

चित दै सुनौ स्याम प्रबीन।
हरि! तुम्हारे विरह राधा मैं जु देखी छीन॥
तज्यो तेल तमोल भूषन, अंग बसन मलीन।
कंकना कर बान राख्यो, गाढ़ भुज गहि लीन॥
जब सँदेसो कहन सुन्दरि, गवन मो तन कीन।
खसि मुद्रावलि चरन अरुझरी, गिरि धरनि बलहीन॥
कंठ बचन न बोल आवै, हृदय असुवनि भीन।
नैन जल भर रोइ दीनो, ग्रसित आपद दीन॥
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यों, परम साहस कीन।
'सूर' प्रभु कल्यान ऐसे, जियहिं आसा लीन॥

श्रीकृष्ण! राधिकाकी दशा क्या पूछते हो? उसकी तो दशा ही विचित्र है। घरके भीतर घूमती रहती है। बिना बात ही खिल-खिलाकर हँसने लगती है। चेतन, अचेतन, सबके सामने तुम्हारे ही सम्बन्धके उद्‌गार निकालती रहती है। कभी धूलमें लोट जाती है, कभी थर-थर काँपने लगती है। हे हरि! मैं क्या बताऊँ, वह विधुवदनी राधा तुम्हारे विषम विरह-दुःखमें विभ्रान्त-सी हुई विचित्र ही चेष्टाएँ करती है।

ललिताचरणको मालूम हुआ, यह राधाकी दशा उद्धवजी श्रीकृष्णसे निवेदन नहीं कर रहे हैं, अपितु साक्षात् श्रीहनुमान्‌जी ही अपने प्रियभक्त ललिताकी विरहव्यथा श्रीकृष्णको सुना रहे हैं।

रासलीलामेंसे लौट आनेपर भी कई दिनतक ललिताचरण उसी दिव्य प्रेमोन्मादमें रहा। खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। न किसीसे कुछ कहता, न किसीकी कुछ सुनता। रात-दिन रोता ही रहता। हाँ, बीच-बीचमें श्रीहनुमानचालीसाका पाठ चलता रहता; क्योंकि उसके हृदयमें यह दृढ़ विश्वास था कि यह सब कुछ श्रीहनुमान्‌जीकी कृपासे ही प्राप्त हुआ है। रातको उसे एक दिन स्वप्न हुआ 'अब वृन्दावन जाकर श्रीरंगनाथजीके दर्शन करो—वहाँ तुम्हारी इच्छाएँ पूरी हो जायँगी। भगवान्‌ने अपने चरणोंमें तुम्हें स्वीकार कर लिया है।' स्वप्न टूटनेपर ललिताचरणने श्रीहनुमान्‌जीके संकेतको स्पष्ट समझ लिया और वह अब वृन्दावनकी तैयारी करने लगा। तैयारी क्या करनी थी? इस पथमें तो अपनी तैयारी कुछ भी काम नहीं देती। सारा-का-सारा आकर्षण उधरसे ही होता है और जब यह आकर्षण प्रबल हो उठता है तो घर-बार, माता-पिता आदिका बन्धन टूटते क्या देर लगती है! ललिताचरणके हृदयमें बस, अब एक ही बात चक्कर लगा रही थी—'हे चरणो! अब वृन्दावन चलो। हे नेत्रो! वृन्दावनकी शोभा निहारो! हे जिह्वे! कानोंसे सुनी हुई वृन्दावनकी गुणावलीका गान कर। हे घ्राण! वृन्दावनकी सुगन्धका अनुभव कर और हे शरीर! तू इस वृन्दावनके भीतर श्रीकृष्णके क्रीडास्थलमें पुलकित होकर बार-बार लोट। वृन्दावनकी ललित निकुंजोंमें घूम-घूमकर स्वर्ण और नीलमणिके समान कान्तिवाली श्रीराधा-माधवकी अति अद्‌भुत और प्यारी युगल-जोड़ीको याद कर-करके मैं कब सब कुछ भूल जाऊँगा? श्रीवृन्दावनकी गलियोंमें विचरता हुआ किशोर और किशोरीजीकी अति अद्‌भुत श्याम-गौर वर्णवाली एक प्राणमयी दोनों मूर्तियोंको सम्मुख देदीप्यमान हुई देखकर मैं कब प्रेमावेशमें मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर

गिर पड़ूँगा?' जो दिन-रात प्रीतमके प्रेममें मतवाला रहता था, वह कितने दिनतक उसका वियोग सह सकता था?

कौन-सी है वह जुदाई की घड़ी जो उम्र भर।
आरजूए वस्लमें यह दिल भटकता ही रहा॥

ललिताने निश्चय कर लिया कि यह घर-द्वार छूटना ही है। वृन्दावनकी तैयारी कर ली। रातको फिर स्वप्नमें श्रीहनुमान्‌जीने प्रकट होकर द्वादशाक्षरी श्रीवासुदेव-मन्त्र उसके कानमें चुपकेसे सुनाया और एक तुलसीकी माला छोड़ गये। दूसरे दिन सबेरे ही ललिता वृन्दावनकी ओर चल पड़ा। प्यारे प्रीतमके प्रेमकी लहर चारों ओर लहरा रही है। देखकर आँखें सहम-सी गयी हैं—

दरियाए इश्क बह रहा लहरोंसे बेशुमार।

वृन्दावनमें पहुँचते ही ललिताकी दशा कुछ और हो गयी—जैसे युगोंकी बिछुड़ी हुई पत्नी अपने पतिके घर आ गयी हो। जीवमात्र उस प्रियतमसे मिलनेके लिये व्याकुल है। वह यहाँ रुकता है, वहाँ रुकता है। परंतु यहाँ-वहाँकी किसी भी चीजसे उसे सान्त्वना नहीं होती—

भूली जोबन मन्द कर अरी बावरी बाम।
यह नैहर दिन दोय को अंत कंतसे काम॥

ललिता सीधे श्रीरंगनाथजीके मन्दिरमें पहुँचा। शरीर धूलसे भरा है। केशोंमें लटें पड़ गयी हैं—परंतु प्रेमीको शरीरसे क्या नाता? प्रेमी अपने प्रियतमके प्रेममें सब कुछ भुला बैठता है—राहका भिखारी हो जाता है। फिर भगवत्प्रेमियोंका तो कहना ही क्या! और प्रेम जितना ही गुप्त होता है, उतना ही गहरा घाव करता है। प्रकट कर देनेसे तो उसका सौन्दर्य धूमिल हो जाता है।

दिनभर ललिता श्रीरंगनाथके मन्दिरकी सीढ़ियोंपर बैठा रहता और रातको नगरसे दूर करीलकी कुंजोंमें चला जाता। वहाँ उसे भगवान्‌की लीलाओंके दर्शन होते—कभी गोपालकृष्णकी माखनचोरी देखता तो कभी गोपियोंके साथ नृत्य करता; कभी रासका दर्शन करता तो कभी चीरहरणका। एक-एक कर सारी लीलाएँ उसके सामने खुलती जातीं। कभी-कभी वह स्वयं रासमें सम्मिलित होकर भगवान्‌के साथ नाचता—दाहिना हाथ भी श्रीकृष्णके हाथमें, बायाँ हाथ भी श्रीकृष्णके हाथमें। कहाँ रहता है, क्या खाता-पीता है—इसे कोई जानता न था। वह स्वयं भी नहीं जानता था कि कहाँसे यह सब हो रहा है! एक वृद्ध महात्मा रोटी और छाछ उसे पहुँचा आया करते थे—वह चुपचाप उसे लेकर यमुनाजीके किनारे चला जाता और उसे पाकर फिर दो-चार चुल्लू यमुनाजल पीकर अलमस्तीमें डोला करता था। हनुमान्‌जीकी दी हुई तुलसीकी माला गलेमें थी और उनका दिया हुआ वासुदेव-मन्त्र हृदयमें—अखण्डरूपसे जाग्रत्! आँखोंके सामने आनेवाला समस्त रूप, कानोंको सुन पड़नेवाला समस्त नाम—एकमात्र श्रीकृष्णका ही रूप और श्रीकृष्णका ही नाम हो गया था; सभी रूप उसी अपरूप रूपमें घुल-मिल गये थे, सभी नाम उस दिव्य नाममें लय हो चुके थे। कानोंसे जो कुछ सुनता, उसमें श्रीकृष्ण ही सुनायी पड़ते; आँखोंसे जो कुछ देखता, उसमें श्रीकृष्ण ही दिखायी पड़ते।

यारको हमने जा-बजा देखा;
कहीं जाहिर कहीं छिपा देखा।

एक बार भी जब उस रूपकी बाँकी-झाँकी हृदय-मन्दिरमें हो जाती है तो फिर सारा चित्र ही बदल जाता है। उसके बाद फिर और कुछ सुहाता ही नहीं। उस यारकी सूरत आँखोंमें, हृदयमें, मनमें, प्राणमें झूलती रहती है—

तेरी सूरतसे नहीं मिलती किसीकी सूरत,
हम जहाँमें तेरी तस्वीर लिये फिरते हैं।

पन्द्रह-सोलह वर्ष इस प्रेमोन्मत्ततामें एक क्षणकी भाँति बीत गये। एक भाव, एक रसमें सारा समय। ललिता अब ललिताचरण नहीं था, वह अब साक्षात् ललिता सखी बन गया था। रात-दिन एकमेक होकर साजनकी सुखभरी सेजका आनन्द ले रहा था—

रमते रहते हैं सदा, देखते लीला उसकी,
कल कहीं, आज कहीं, प्रात कहीं, रात कहीं।

देखते-देखते विवाहकी शुभ घड़ी आ गयी। यह प्रणय-परिणय साधकोंके आनन्दकी चरण सीमा है। हाँ, वह अपने प्यारमें सदाके लिये खो जाता है। इस रातको साधक अपना पूर्ण शृंगार करता है; क्योंकि आजकी रात उसके लिये मिलनकी, महामिलनकी मंगलमय, मधुमय रात होती है और सारा शृंगार तो भीतरका है। आज ललिता वस्तुतः 'ललिता' बन गया था—सोलहों शृंगारसे सजी हुई। प्रेमियोंका यह परिणय! प्रिया-प्रियतमका यह मधु-मिलन! आज रासका अपूर्व समारोह है। समस्त वृन्दावनकी कुंजोंमें दिव्य उन्माद नृत्य कर रहा है—ललित-त्रिभंगी श्यामसुन्दरने वंशी बजायी। मेघमालाको छिन्न-भिन्न कर ऊपर पहुँचकर गन्धर्वराज तुम्बुरुको आश्चर्यमें डालता हुआ, सनन्दनादि योगियोंको ध्यानसे विचलित कर, ब्रह्माजीको स्तब्ध करता हुआ और नीचेकी ओर पातालमें पहुँचकर राजा बलिको अत्यन्त उत्कण्ठित एवं चंचल करके नागराज अनन्तदेवको कम्पित करता हुआ भगवान्‌के वेणुनाद ब्रह्माण्ड-कटाहकी दीवार भेदकर सब ओर असीम अनन्तमें फैल गया।

अपनी प्रमुख अष्ट सखियोंके साथ श्रीकृष्ण रासमें पधारे। फिर सहस्र-सहस्र गोपियाँ पधारीं। धन्य हैं वे, जो भगवान्‌की

इस दिव्य वंशीध्वनिके आवाहनको सुनते हैं और सुनकर लोक और कुलकी मर्यादाको भंग कर सदाके लिये प्राणधनके प्रणय-पथमें चल देते हैं। फिर तो मिलन होता ही है, अवश्यमेव होता है। आज ललिताने भी हृदय खोलकर हरिके वंशीपथका अनुसरण किया। रासमण्डलीमें उसे भगवान्ने सम्मिलित कर लिया और फिर भगवान्ने सखी ललिताजीको संकेत किया। उन्होंने भगवान्का गुप्त संकेत समझकर ललिताको अपने हृदयमें छिपा लिया। ललिता ललितामें लीन हो गया—भगवान्की प्रणयिनीका पद पा गया!

उसके बाद वृन्दावनमें श्रीरंगनाथजीकी सीढ़ियोंपर वह पागल फिर नहीं दिखायी दिया। दीखता कहाँसे? वह तो अपने 'स्वरूप'में प्रवेश कर गया।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!